पूँजीवाद का आम-संकट

लेखक
वी० त्रेपेल्कोव

अनुवादक
जुगमंदिर तायल

राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा) लि
चमेलीवाला मार्केट, एम. आई. रोड, जयपुर 302001

अनुक्रम

प्रस्तावना

जिस ऐतिहासिक युग मे हम जी रहे हैं, उसकी मूल विशेषता पूँजीवाद से समाजवाद की ओर क्रांतिकारी सक्रमण है। मार्क्स-एंगेल्स और लेनिन ने जिस सामाजिक परिवर्तन का पूर्व-अनुमान किया था, वह अब सच हो रहा है। पूँजीवादी दुनिया की नींव चरमरा रही है और सारे संसार मे समाजवाद की स्थिति अधिक-से-अधिक मजबूत होती जा रही है।

सामाजिक विकास के वस्तुगत नियमों की खोज करते हुए मार्क्सवाद-लेनिनवाद पूँजीवाद के भीतरी अंतर्विरोधों का उद्घाटन करता है और यह बताता है कि समाज मे क्रातिकारी विस्फोट तथा एक नयी सामाजिक-संघटना में समाज का संक्रमण अवश्यभावी है। मार्क्स और एंगेल्स ने पूँजीवाद से समाजवाद की ओर क्रांतिकारी संक्रमण की ऐतिहासिक आवश्यकता की सैद्धांतिक-आधारभूमि को प्रस्तुत किया। उन्होंने यह सिद्ध किया कि अन्य सभी पूर्ववर्ती सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थाओ के समान पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति भी ऐतिहासिक दृष्टि से अल्पकालिक है और जैसे पहले आदिम जनजातीय व्यवस्था का स्थान दास-स्वामियों के समाज ने, दास-स्वामियों के समाज का स्थान सामन्तवाद ने तथा सामन्तवाद का स्थान पूँजीवाद ने लिया था वैसे ही पूँजीवाद का स्थान अनिवार्य रूप से साम्यवाद लेगा।

पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति की प्रमुख विशेषता ऐसा अतर्विरोध है जिसका समाधान नहीं हो सकता, जो अनिवार्य रूप से समाज मे क्रांतिकारी परिवर्तनों को जन्म देता है तथा एक नयी सामाजिक-संघटना की ओर क्रमिक रूप से व क़दम-ब-क़दम आगे बढ़ता है। मार्क्स और एंगेल्स के युग मे अर्थात् 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे समाजवादी क्रांति की सफलता के लिए आवश्यक वस्तुगत व आत्मगत परिस्थितियाँ पूरी तरह परिपक्व नहीं हुई थी। 1915 मे लेनिन ने लिखा था: 'अर्धशताब्दी पहले सर्वहारा वर्ग बहुत कमजोर था। समाजवाद की सफलता के

लिए वस्तुगत परिस्थितियाँ तब तक परिपक्व नहीं हुई थी।'[1] ये परिस्थितियाँ 19वीं शताब्दी के अंतिम तथा बीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में विकसित हुईं जब पूँजीवाद ने अपने विकास के इजारेदार-पूँजीवादी दौर में प्रवेश किया।

पूँजीवाद के (जिसकी प्रमुख विशेषता मुक्त प्रतियोगिता है) साम्राज्यवाद के रूप में विकसित हो जाने के परिणामस्वरूप पूँजीवादी देशों की अर्थव्यवस्था व राजनीति में गहरे परिवर्तन हुए। सर्वहारा के बढ़ते हुए संघर्षों ने मार्क्सवादी दृष्टि से इन परिवर्तनों के अध्ययन की बलपूर्वक माँग की। मार्क्स व एंगेल्स के कार्य को जारी रखते हुए यह ऐतिहासिक कार्य लेनिन ने पूरा किया। अपने अध्ययन-कार्य के दौरान तथा 19वीं शताब्दी के अंतिम व बीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विभिन्न पक्षों की जानकारी देने वाली विशाल तथ्यात्मक-सामग्री का सैद्धांतिक-सामान्यीकरण करते हुए लेनिन ने मार्क्स की शिक्षाओं का विकास किया और उन्हें आगे बढ़ाते हुए साम्राज्यवाद के नये सिद्धांत का निर्माण किया।

साम्राज्यवाद के आर्थिक सारतत्त्व का विश्लेषण करते हुए लेनिन ने बताया कि मुक्त प्रतियोगिता के क्षेत्र को कम करके बीसवीं शताब्दी के आरंभ में पूँजी तथा उत्पादन के केन्द्रीकरण व संकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया ने अर्थव्यवस्था के महत्त्वपूर्ण स्थानों पर कब्जा जमा लेने वाले पूँजीपतियों के शक्तिशाली गठबंधनों को जन्म दिया। इस प्रक्रिया ने इजारेदार बैंकिंग पूँजी का इजारेदार औद्योगिक पूँजी में विलय करके वित्तीय पूँजी तथा वित्तीय कुलीन तंत्र को भी जन्म दिया और इसके साथ पूँजी के निर्यात को भी तेजी से बढ़ाया। इसके परिणामस्वरूप न केवल राष्ट्रीय बल्कि ऐसी अंतर्राष्ट्रीय इजारेदारियों का निर्माण हुआ जिनमें पूँजीवादी देशों के अनेक समूह शामिल थे। इन इजारेदारियों ने विश्व का (जिसका सबसे बड़े पूँजीवादी देशों के बीच क्षेत्रीय विभाजन पहले ही हो चुका था) आर्थिक विभाजन शुरू किया। पूँजीवाद का मूल लक्षण—इजारेदारियों का आधिपत्य—इन नियमों के अंतर्गत विभिन्न रूपों में प्रकट होना है।

लेनिन पूँजीवाद की इजारेदारी-अवस्था के रूप में साम्राज्यवाद के आर्थिक सारतत्त्व को स्पष्ट करने तक ही सीमित नहीं रहे। उन्होंने यह भी बताया कि पूँजीवाद की मूल विशेषताओं के विकास तथा उनकी निरंतरता के रूप में ही साम्राज्यवाद का उदय हुआ है, तथा यह पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति की ही एक विशिष्ट अवस्था है। इसकी विशेषताएँ तीन हैं—(1) साम्राज्यवाद अवरुद्ध अथवा परजीवी व मरणासन्न इजारेदार पूँजीवाद है, (2) मुक्त प्रतियोगिता वाले पूँजी-

1. वी० आई० लेनिन—समाजवाद और युद्ध : युद्ध के प्रति रूसी सामाजिक जनवादी मजदूर दल का दृष्टिकोण। संकलित रचनाएँ, भाग 21, पृष्ठ 313, प्रगति प्रकाशन, मास्को 1974 (अंग्रेजी में)

वाद के संदर्भ में यह पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था है और इसके साथ, (3) यह पूंजीवाद की अंतिम अवस्था व समाजवादी क्रांति की पूर्व संध्या भी है।

लेनिन ने साम्राज्यवाद को मरते हुए पूंजीवाद के रूप में विवेचित किया और यह रेखांकित किया कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद के समस्त अंतर्विरोधों को तीव्रतर कर देता है। उन्होंने लिखा : "अंतर्विरोधों का यह तीव्रीकरण इतिहास के उस संक्रमण-काल की सबसे अधिक बलवान व गतिशील-शक्ति होता है, जो अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी की अंतिम विजय के साथ आरंभ होता है।"[1] पूंजीवाद के समस्त अंतर्विरोधों का यह अत्यंत तीव्रीकरण ही (जोकि साम्राज्यवाद के युग की विशेषता है) पूंजीवाद के पतन व समाजवादी क्रांति के विजय की ऐतिहासिक अनिवार्यता को निश्चित करता है।

साम्राज्यवाद के नियमों के विश्लेषण से लेनिन ने यह निष्कर्ष निकाला कि पूंजीवाद के गर्भ के भीतर सर्वहारा समाजवादी क्रांति की विजय की परिस्थितियाँ परिपक्व हो चुकी हैं और संसार ने पूंजीवादी व्यवस्था के विनाश व समाजवादी क्रांति और राष्ट्रीय मुक्ति क्रांतियों के युग में प्रवेश कर लिया है। इतिहास ने लेनिन के इन निष्कर्षों को पुष्ट किया है कि समाजवादी क्रांति सामाजिक-विकास के वस्तुनिष्ठ नियमों के अनुसार होती है और पूंजीवादी समाज के भीतरी अंतर्विरोध इसके मुख्य कारण होते हैं। समाजवादी क्रांति की सफलता इस पर निर्भर होती है कि सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों की परिपक्वता किस स्तर पर है।

भूमंडलीय स्तर पर पूंजीवाद के स्थान पर समाजवाद की स्थापना का क्रांतिकारी परिवर्तन एक ऐसे ऐतिहासिक युग में होता है, जिसमें पूंजीवाद आम-संकट से घिरता जाता है। पूंजीवाद के आम-संकट के सारतत्त्व व इसके विकास के संपूर्ण दौरों की समझ, लेनिन के साम्राज्यवाद के सिद्धांत तथा इस सिद्धांत पर आधारित समाजवादी क्रांति के सिद्धांत के द्वारा ही संभव है। पूंजीवाद का आम-संकट पूंजीवाद के विकास की साम्राज्यवादी अवस्था में उसके तमाम अंतर्विरोधों के लगातार तीव्र होते जाने का अनिवार्य परिणाम है। साम्राज्यवाद का ऐतिहासिक स्थान निश्चित करते हुए लेनिन ने उसके साथ-साथ पूंजीवाद के आम-संकट के सिद्धांत की आधार-शिलाओं का भी विकास किया।

पूंजीवाद के आम-संकट के संबंध में लेनिन ने जो कुछ लिखा है वह मार्क्सवादी-लेनिनवादी दलों के सामान्य क्रियाकलाप और सभी देशों में सर्वहारा के क्रांतिकारी संघर्षों के लिए बहुत मूल्यवान है। लेनिन ने एक नये ऐतिहासिक युग—साम्राज्यवाद व सर्वहारा क्रांति का युग तथा पूंजीवाद से समाजवाद की ओर संक्रमण व साम्यवादी समाज के निर्माण का युग— के लिए मार्क्सवादी सिद्धांत

1. वी० आई० लेनिन—'साम्राज्यवाद : पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था', संकलित रचनाएं, भाग 22, पृष्ठ 300 (अंग्रेजी में)

का रचनात्मक विकास किया।

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के दस्तावेज़, कम्युनिस्ट तथा मज़दूर दलों के अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन और समाजवादी-लेनिनवादी दलों के दस्तावेज़ों में पूंजीवाद के आम संकट के संबंध में लेनिन के सिद्धान्त का और अधिक रचनात्मक विकास किया गया है।

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की 25वीं कांग्रेस में भाषण देते हुए लियोनिद ब्रेझनेव ने कहा था: 'पूंजीवाद के "सुखद समाज" की घोषणा करना कल्पित भविष्य के लिए बहुत दूर की सोच है। पूंजीवाद के पास अभी काफी आरक्षित शक्ति है। फिर भी, हाल के वर्षों की घटनाएं बड़ा अकाट्य सुबूत देती हैं कि पूंजीवाद एक भविष्य-रहित समाज व्यवस्था है।'[1]

हमारे समय में गहरे होते जाते पूंजीवाद के आम-संकट को पूंजीवाद के विकास की सामान्य विशेषताओं के अध्ययन द्वारा ही समझा जा सकता है। यह प्रक्रिया साम्राज्यवाद के भीतरी अन्तर्विरोध और नये शक्ति संतुलन के समाजवाद के पक्ष में हो जाने के कारण हो रही है।

निरन्तर गहरा होता पूंजीवाद का आम संकट आज केवल दो वर्तमान व्यवस्थाओं—साम्राज्यवाद और राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों—के बीच समाजवाद के पक्ष में परिवर्तित नये शक्ति-संतुलन के रूप में ही प्रकट नहीं होता है, बल्कि विकसित पूंजीवादी देशों में निरन्तर बढ़ती आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक अस्थिरता के रूप में भी प्रकट होता है। ये सारी प्रक्रियाएं अंतर्विरोधों तथा अन्तर्क्रियाओं के एक जटिल जाल में गुंथी हैं। ये वैज्ञानिक-तकनीकी क्रांति से भी प्रभावित हैं जो श्रम तथा उत्पादन के समाजीकरण को बढ़ाती है तथा साथ ही पूंजीवाद के सामाजिक द्वंद्वों का और व्यापक स्तर पर पुनरुत्पादन करती है।

1. लियोनिद ब्रेझनेव—सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति की रपट और गृह व विदेश नीति में पार्टी के तात्कालिक कार्यभार, नोवोस्ती प्रेस एजेन्सी प्रकाशन गृह, मास्को, 1976, पृष्ठ 34 (अंग्रेजी में)

पूंजीवाद के आम-संकट की उत्पत्ति और उसका सारतत्त्व

. पूंजीवाद के आम-संकट की ऐतिहासिक अनिवार्यता

पूंजीवाद का आम-संकट इसके भीतरी विरोधी अन्तर्द्वंद्वों से जो पूंजीवादी
कास की इजारेदारी अवस्था मे तीक्ष्णतम हो जाते हैं, उत्पन्न होता है। जैसाकि
निन ने बताया है, पूंजीवाद का आम-संकट कोई संयोगजन्य घटना नहीं है, बल्कि
जीवाद के पतन और क्षय के दौरान अवश्यभावी तथा प्राकृतिक अवस्था है।
निन ने जोर देकर कहा है, "पूंजीवाद का शासन इसलिए नष्ट नहीं होता है कि
न्य कोई व्यक्ति सत्ता पर कब्जा करने के लिए तत्पर है' 'यदि पूंजीवादी देशों
ा समस्त आर्थिक विकास पतन की ओर अग्रसर नही हो तो पूंजीवादी-शासन का
त करना असंभव होगा'' 'यदि पूंजीवाद इतिहास के द्वारा अशक्त और निर्बल
ही बना दिया जाये तो कोई भी शक्ति इसे नष्ट नही कर सकती।"[1]

उत्पादक-शक्तियों के लगातार विकास के कारण, उत्पादन-साधनों के निजी
वामित्व पर आधारित पूंजीवादी उत्पादन-संबंध पुराने होने लगते हैं। पूंजीवादी
त्पादन-संबंध सामाजिक-आर्थिक विकास मे अधिक-से-अधिक बाधा डालने लगते
हैं। 19वी शताब्दी का अंत होने तक इजारेदारों के आधिपत्य और पूंजीवादी
विश्व आर्थिक व्यवस्था का निर्माण हो जाने के कारण, उत्पादन शक्तियों व पूंजी-
ादी उत्पादन संबंधो के बीच अंतर्विरोध बहुत ही तीक्ष्ण हो गये। अब तक अज्ञात,
उत्पादन का अभूतपूर्व सकेंद्रीकरण और विश्व-अर्थव्यवस्था के ढांचे मे बहुत से
देशो के शामिल हो जाने के परिणामस्वरूप उत्पादक-शक्तियों की ऐसी आश्चर्य-
नक अभिवृद्धि हुई कि पूंजीवादी उत्पादन संबंध उत्पादक-शक्तियो के विकास मे

1 वी० आई० लेनिन, 'युद्ध और क्रांति', मई 14 (27) 1917 को दिया गया भाषण,
संकलित रचनाएं, भाग 24, पृ० 41 (अंग्रेजी मे)

प्रेरक शक्ति बनने के स्थान पर बेड़ी बन गये। मानवता के सामने प्रबल उत्पादन-शक्तियों को स्वतंत्र करने तथा उनके भावी विकास के लिए पूरा क्षेत्र प्रदान करने तथा समाज के हित में उनका उपयोग करने की जरूरत उत्पन्न हो गई। यह जरूरत उत्पन्न हो गई कि क्रांति के द्वारा, जो पूँजीवादी उत्पादन संबंधों को नष्ट कर देगी, इस द्वंद्व का समाधान किया जाये।

इजारेदारी आधिपत्य विश्वस्तरीय पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के निर्माण, जो कि साम्राज्यवाद के अंतर्गत पूर्ण हुई, ने पूँजीवादी उत्पादन की सामाजिक प्रकृति को अधिक तीव्र और गहन किया। लेनिन ने लिखा है—"पूँजीवाद अपनी साम्राज्यवादी अवस्था में, उत्पादन के परिपूर्ण समाजीकरण की ओर सीधा आगे बढ़ता है और पूँजीपतियों को, उनकी इच्छा व चेतना के विरुद्ध कुछ नये प्रकार की सामाजिक व्यवस्था—पूर्ण मुक्त प्रतियोगिता से पूर्ण समाजीकरण की ओर संक्रमण की व्यवस्था—में खींच लेता है।"[1] किन्तु उत्पादन का समाजीकरण निजी पूँजी द्वारा उत्पादन के सारे लाभों को ग्रहण किये जाने के विरोध में है। साम्राज्यवाद के अंतर्गत करोड़ों मजदूरों के सामूहिक परिश्रम का लाभ शक्तिशाली उद्योगपतियों का एक छोटा समूह उठाता है। उत्पादन के सामाजिक चरित्र तथा लाभ ग्रहण करने की निजी संपत्ति वाली व्यवस्था के बीच अंतर्विरोध पहले कभी इतना तीक्ष्ण व गहरा नहीं होता है जैसा पूँजीवादी विकास की इजारेदारी अर्थात् साम्राज्यवादी अवस्था में होता है।

उत्पादन का समाजीकरण यह प्रकट करता है कि स्वयं पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर अर्थव्यवस्था के लोक-नियंत्रण की परिस्थितियाँ परिपक्व हो रही हैं और निजी पूँजीवादी-स्वामित्व की व्यवस्था इसके सारतत्व के अनुकूल नहीं रह गई है। उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व को लोक-स्वामित्व में बदलना आवश्यक हो जाता है। इसका अर्थ यह होता है कि कुल मिलाकर पूँजीवाद से समाजवाद की ओर क्रांतिकारी संक्रमण की वस्तुनिष्ठ भौतिक परिस्थितियाँ परिपक्व हो गयी हैं।

साम्राज्यवाद के अंतर्गत पूँजी और श्रम के बीच अंतर्विरोध तीक्ष्ण हो जाते हैं। इजारेदार पूँजीपति इजारेदारी-मूल्य, जो शोषण का एक नया शस्त्र है, लागू करते हैं। इसमें उन्हें न केवल अतिरिक्त मूल्य ही, बल्कि श्रम की कीमत का एक भाग भी मिलने लगता है। आधुनिक तकनीक व उत्पादन की अभियांत्रिक पद्धति के प्रयोग में इजारेदार-समूह श्रम को सघन बनाने तथा शोषण को बढ़ाने की कोशिश करते हैं। परिणाम स्वरूप सर्वहारा के रोष में वृद्धि होती है।

---

1. वी० आई० लेनिन, साम्राज्यवाद · 'पूँजीवाद की उच्चतम अवस्था', संकलित रचनाएँ, भाग 22, पृ० 205 (अंग्रेजी में)

इजारेदार पूंजीपति वर्ग तथा अन्य वर्गों व सामाजिक सस्तरों—किसान, व मध्यम पूंजी वाले शहरी वर्ग, बुद्धिजीवी—के बीच अंतर्विरोधों का बढ़ना रहता है। इससे समाज के क्रांतिकारी रूपांतरण के संघर्ष को विकसित करने ए मजदूर वर्ग के नेतृत्व में समस्त जनवादी शक्तियों के एक साम्राज्यवाद-धी गठजोड़ में एकताबद्ध होने की परिस्थितियां बनती हैं।

साम्राज्यवादी देशों के भीतर सामाजिक अंतर्विरोधों के निरंतर बढ़ते जाने से ष्ट्रीय अंतर्विरोध, प्रमुख रूप से साम्राज्यवादी देशों के इजारेदार पूंजीपति पराधीन देशों की शोषित जनता के बीच अंतर्विरोध बढ़ने लगते हैं। ाज्यवादी देशों के इजारेदार पूंजीपति पराधीन देशों की कीमत पर अपने ू अंतर्विरोधों को दूर करने व अधिक-से-अधिक लाभ कमाने की कोशिश हैं। पूंजी का निर्यात करके और वस्तुओं के असमान विनिमय के द्वारा रेदार पूंजीपति वर्ग पराधीन देशों की जनता द्वारा उत्पन्न भारी मूल्य को हड़प हैं। उत्पीड़न और शोषण का अनिवार्य परिणाम प्रतिरोध है। जन-समूह दृढ़-वय से संपूर्ण राजनीतिक व पूंजीपति वर्ग और उपनिवेशी व पराधीन देशों की ता के बीच अंतर्विरोधों की अभिवृद्धि, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के विकास परिपक्वता के लिए वस्तुनिष्ठ आधारशिला का काम देती है। इसका अर्थ यह क साम्राज्यवादी ढांचे के भीतर ही उपनिवेशी व पराधीन देश इजारेदारी वाद के आरक्षित-क्षेत्र बदलकर सर्वहारा क्रांति की प्रभावी शक्ति बन जाने

साम्राज्यवाद के अंतर्गत साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच आपसी अंतर्विरोध बढ़ जाते हैं। हरेक इजारेदार-समूह विश्व पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में दूसरे देशों इजारेदार-समूहों की स्थिति को निर्बल करके अपनी स्थिति को मजबूत बनाने लिए प्रयत्नशील होता है। वे ऊंचे मुनाफे कमाने, बाजारों व कच्चे माल के नों पर अधिकार व पुनर्वितरण और लाभदायक विनियोग क्षेत्रों के लिए आपस भयानक रूप से लड़ाई लड़ते हैं। परिणाम यह होता है कि साम्राज्यवादी क्तियों के बीच तीव्र रूप में बढ़े हुए अंतर्विरोध सामने आते हैं। इनसे साम्राज्य-द की शक्ति कमजोर हो जाती है और वस्तुनिष्ठ रूप में राष्ट्रीय मुक्ति आंदो-व समाजवादी क्रांति की सफलता की संभावनाएं बढ़ती हैं।

साम्राज्यवाद के युग की विशेषता, पूंजीवाद से समाजवाद की ओर संक्रमण लिए सिर्फ वस्तुनिष्ठ (भौतिक और सांगठनिक) परिस्थितियों का परिपक्व होना नहीं है, बल्कि आवश्यक आत्मनिष्ठ परिस्थितियों की रचना भी है। इसे मज-र वर्ग की बढ़ती चेतना व संगठन, सामूहिक क्रांतिकारी कार्रवाही के लिए इसकी परता, मजदूर वर्ग व गैर-सर्वहारा जनसमूहों (विशेष रूप से मेहनतकश किसान) बीच मजबूत गठबंधन, मार्क्सवादी-लेनिनवादी दलों के बढ़ते प्रभाव और राष्ट्रीय

मुक्ति आंदोलनों, जो समाजवादी क्रांति के पक्ष में प्रभावी शक्ति है, के विकास के रूप में देखा जा सकता है। जैसा कि पहले बताया गया है, पूँजीवाद से समाजवाद की ओर संक्रमण के लिए वस्तुनिष्ठ व आत्मनिष्ठ परिस्थितियों के परिपक्व होने की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न देशों में एक साथ तथा एक समान रूप में नहीं होती है। यह तथ्य लेनिन द्वारा रचित साम्राज्यवाद के युग में पूँजीवाद के आर्थिक-राजनीतिक असमान विकास होने के वस्तुनिष्ठ नियम की क्रियाशीलता का संकेत है।

इजारेदार पूँजीवाद की अवस्था में आर्थिक विकास सिर्फ असमान ही नहीं होता है (असमान-विकास इससे पूर्व भी पूँजीवाद की विशेषता होती है) बल्कि अनियमित भी होता है। साम्राज्यवाद के युग में पूँजीवादी देशों का असमान आर्थिक विकास उनके असमान राजनैतिक विकास से निकटता से जुड़ा है। 1916 में लेनिन ने लिखा था—"पूँजीवाद का विकास विभिन्न देशों में अत्यन्त असमान रूप में आगे बढ़ता है'''इससे अकाट्य रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि समाजवाद सभी देशों में एक साथ विजय प्राप्त नहीं कर सकता। यह पहले एक या अनेक देशों में विजयी होगा जबकि अन्य देश कुछ समय के लिए पूँजीवादी या पूर्व-पूँजीवादी अवस्था में बने रहेंगे।"[1] अतः विभिन्न देशों में समाजवादी क्रांति की परिस्थितियाँ विभिन्न रूपों में विकसित होती हैं। इस कारण समाजवादी क्रांति पहले उस देश में होती है जहाँ उसके लिए परिस्थितियाँ सबसे जल्दी परिपक्व होती हैं। पूँजीवाद की इजारेदारी अवस्था में होने वाला अनियमित विकास पूँजीवादी देशों के बीच तीक्ष्ण अंतर्विरोधों तथा द्वंद्वों को जन्म देता है। इससे विश्व पूँजीवादी व्यवस्था समग्रत: कमजोर होती है और कुछ देशों में समाजवादी क्रांति की सफलता के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ बन जाती हैं। इस प्रकार पूँजीवाद के आम-संकट के उदय और उसके गहराने से समाजवाद द्वारा पूँजीवाद के क्रांतिकारी प्रतिस्थापन की ओर वस्तुनिष्ठ रूप में प्रगति होती है। किंतु यह प्रतिस्थापन एक साथ नहीं होता, यह एक पूरे ऐतिहासिक दौर में जीवित रहता है और इसके शुरुआत की घोषणा एक देश में समाजवादी क्रांतिकारी की विजय से होती है।

पूँजीवाद के आम-संकट की पूर्वापेक्षाएँ इजारेदार पूँजीवाद में अंतर्निहित अंतर्विरोधों के उग्र होने के साथ ही प्रकट व एकत्र होना शुरू कर देती हैं। पहला महायुद्ध, जो साम्राज्यवादी देशों के बीच विश्व के क्षेत्रीय पुनर्वितरण की इच्छा के कारण उस समय मौजूद अंतर्विरोधों के स्वत: विस्फोट का परिणाम था, पूँजीवाद के आम-संकट की शुरुआत को सामने लाया। इजारेदार पूँजीपति वर्ग ने सोचा था कि

1 वी॰ आई॰ लेनिन, 'सर्वहारा क्रांति का सैनिक कार्यक्रम', संकलित रचनाएँ, भाग 23, पृ॰ 79 (अंग्रेजी में)।

वे शक्ति-प्रयोग द्वारा अपने हितानुसार विश्व का पुनर्विभाजन कर सकते हैं और साथ ही क्रांतिकारी आंदोलन का दमन करके साम्राज्यवाद की स्थिति को मजबूत भी बना सकते हैं। लेकिन युद्ध का उल्टा नतीजा सामने आया—उसने पूंजीवादी समाज के भीतरी व बाहरी अंतर्विरोधों का समाधान तो नहीं ही किया, उलटे उन्हें तीव्र और उग्र कर दिया। इसने भारी मात्रा में भौतिक नुकसान किया, विशाल मात्रा में मानव-जीवन की हानि की और मेहनतकशों की गरीबी तथा पीड़ा को उस समय चरम सीमा पर पहुंचा दिया। इसके साथ युद्ध ने इजारेदारों को भारी मात्रा में समूह होने में सहायता भी दी। अमेरिका के पूंजीपतियों ने विशेष रूप से भारी लाभ कमाया क्योंकि सैनिक सामान की बिक्री से उनके मुनाफे शांति-काल की तुलना में तीन-चार गुना ज्यादा हो गये।

पहले महायुद्ध ने पूंजीवादी अंतर्विरोधों को बहुत अधिक बढ़ाया, अनेक पूंजीवादी देशों में क्रांतिकारी विस्फोटों को जन्म दिया, उत्पीड़ित जनसमूहों के राष्ट्रीय-मुक्ति आंदोलनों को जाग्रत किया। उस समय लेनिन ने लिखा था— "यूरोपीय महायुद्ध एक भारी ऐतिहासिक संकट है, एक नये युग की शुरुआत है। अन्य किसी संकट के समान युद्ध ने गहराई में दबे विरोधों को बढ़ा दिया है और उन्हें धरातल के ऊपर ला दिया है।"[1]

पहले महायुद्ध ने संपूर्ण साम्राज्यवादी व्यवस्था की शक्ति को कम किया और साम्राज्यवादी जंजीर को, उसके सबसे कमजोर हिस्से पर तोड़ने में सहायता दी। वास्तव में साम्राज्यवादी व्यवस्था में वह कड़ी और उसके समस्त अंतर्विरोधों का केन्द्र-बिंदु रूस सिद्ध हुआ। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में रूस समाजवादी क्रांति के लिए आवश्यक वस्तुनिष्ठ व आत्मनिष्ठ परिस्थितियों का उपयुक्त स्थान हो गया था। समाजवादी अक्तूबर क्रांति (1917) ने रूस में समूची दुनिया के लिए महत्त्व की ऐतिहासिक प्रक्रिया—समाजवाद द्वारा पूंजीवाद की प्रतिस्थापना की प्रक्रिया—आरंभ की।

पहला महायुद्ध और महान् समाजवादी अक्तूबर क्रांति ने पूंजीवाद के आम-संकट की शुरुआत को रेखांकित किया। पहले महायुद्ध के संबंध में लेनिन का यह मूल्यांकन था कि सामाजिक क्रांति की तुलना में यह एक छोटा संकट था, एक पूंजीवादी-साम्राज्यवादी संकट था। उन्होंने आसन्न समाजवादी क्रांति को बड़ा संकट माना। इसका अर्थ यह है कि महान् समाजवादी अक्तूबर क्रांति ने पूंजीवादी व्यवस्था के विनाश और समाजवादी-व्यवस्था की ओर संक्रमण के युग की शुरुआत की।

---

1. वी० आई० लेनिन, 'युद्ध, अंधराष्ट्रवाद और जीवित समाजवाद: इंटरनेशनल की पुनर्स्थापना कैसे हो सकती है', संकलित रचनाएं, भाग 21 पृ० ९९ (अंग्रेजी में)।

2. पूंजीवाद के आम-संकट का सारतत्त्व

समाजवादी क्रांति के बाद के युग को लेनिन ने समग्र रूप में पूँजीवाद के पतन और समाजवादी समाज के जन्म के युग के रूप में चित्रित किया है।[1] उनके निष्कर्ष पूँजीवाद के आम-संकट—जो समाजवादी क्रांति के परिणामस्वरूप पूँजीवाद के आतंरिक विघटन और पतन की अनिवार्य रूप से भूमंडलीय ऐतिहासिक प्रक्रिया है—के सारतत्त्व के वैज्ञानिक-वर्णन पर आधारित हैं। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें अधिक-से-अधिक देश पूँजीवाद से अलग होते जाते हैं और जिसमें क्षयशील पूँजीवाद व विकासमान समाजवाद के बीच संघर्ष का समावेश होता है। यद्यपि साम्राज्यवाद पूँजीवादी-व्यवस्था की पुनर्स्थापना के लिए हरसंभव कोशिश करता है किन्तु अपनी खोई हुई ऐतिहासिक पहल को पाने और आधुनिक विश्व के विकास को बदलने में असमर्थ रहता है। मानव जाति के विकास की मुख्य धारा का निर्णय अब विश्व समाजवादी व्यवस्था, अंतर्राष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन द्वारा होता है।

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रम में बताया गया है—"हमारा युग, जिसकी मुख्य अंतर्वस्तु पूँजीवाद से समाजवाद की ओर संक्रमण है, दो विरोधी सामाजिक व्यवस्थाओं के बीच संघर्ष का, समाजवादी व राष्ट्रीय मुक्ति क्रांतियों का, समाजवादी व्यवस्था के नष्ट होने और उपनिवेशी व्यवस्था के अंत होने का युग है। यह युग अधिक-से-अधिक जनसमूहों के समाजवाद के मार्ग में संक्रमित होने और विश्व स्तर पर समाजवाद व साम्यवाद के विजयी होने का युग है। वर्तमान युग का प्रमुख कारक अंतर्राष्ट्रीय मजदूर वर्ग और इसकी मुख्य रचना विश्व समाजवादी व्यवस्था है।"[2]

'पूँजीवाद के आम-संकट' की धारणा को 'आर्थिक संकट' की धारणा से नहीं मिलाया जाना चाहिए। आर्थिक संकट समय-समय पर नियमित रूप से आते हैं और उनमें से हरेक का इस या उस तरह से पूँजीवादी ढाँचे के अंतर्गत समाधान कर लिया जाता है। हर नया आर्थिक संकट पूर्ववर्ती आर्थिक संकट के बाद के समय में पूँजीवादी उत्पादन-ढाँचे में एकत्र हुए अंतर्विरोधों का विस्फोट होता है। एक निश्चित आर्थिक संकट के समय इन अंतर्विरोधों को अस्थायी रूप से दूर कर दिया जाता है। आर्थिक संकट औद्योगिक-चक्र की एक स्थिति है जो प्रायः सापेक्षिक रूप से थोड़ी अवधि (एक वर्ष से तीन वर्ष तक) के लिए चलती है, इसके बाद पूँजीवादी अर्थव्यवस्था अपने स्वयं को अस्थायी रूप से और क्रमशः पुनर्स्थापित करने

1. [illegible] लेनिन, [illegible] भाग 21, पृ० 130।
2. [illegible] कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शे०) की बाईसवीं विशेष कांग्रेस, [illegible] प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1962, पृ० 449।

दूसरे महायुद्ध का अंत विश्व-समाजवादी व्यवस्था के जन्म और उसके मजबूत होने के साथ हुआ। इसके साथ मजदूर वर्ग व राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों में शक्तिशाली उभार आया और साम्राज्यवाद की उपनिवेशी व्यवस्था का विघटन प्रारंभ हुआ। राष्ट्रों का एक बड़ा समूह, जिसने राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है, अब अपनी आर्थिक स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रहा है। कुछ देशों ने विकास के गैर-पूंजीवादी रास्ते को चुना है और वे व्यापक स्तर पर सामाजिक-आर्थिक सुधार कर रहे हैं। इन देशों के भीतर सामंती व पूंजीवादी शोषक संबंधों के विरुद्ध संघर्ष चल रहा है। इन देशों की विदेश नीति साम्राज्यवाद विरोधी है।

पूंजीवाद के आम-संकट का तीसरा विशिष्ट लक्षण साम्राज्यवादी देशों के भीतरी अंतर्विरोधों का बढ़ जाना और आर्थिक अस्थिरता का तीव्र क्षय हो जाना है। यह विकास-दरों के तीक्ष्ण उतार-चढ़ाव, असमान आर्थिक विकास, बढ़ती संख्या में बार-बार आते संकट, उत्पादन क्षमता का लगातार कम उपयोग, दीर्घकालीन बेरोजगारी, तेजी से बढ़ती मुद्रास्फीति, अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक संबंधों में संकट, अर्थ-व्यवस्था के सैन्यीकरण आदि के रूप में प्रकट होता है। राजकीय इजारेदार पूंजीवाद—जो पूंजीवादी व्यवस्था के निर्बल हो जाने और अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए इजारेदार पूंजीवाद द्वारा राज्य-शक्ति के प्रयोग की इच्छा का परिणाम है, पूंजीवाद के अंतर्विरोधों को दूर करने में असमर्थ है और अंत में उन अंतर्विरोधों को जटिल व उग्र बनाता है।

पूंजीवाद के आम-संकट का चौथा प्रमुख लक्षण पूंजीवादी राजनीति व विचारधारा का संकट है। पूंजीवादी विचारक—जो इजारेदार पूंजीवाद के हितों को व्यक्त करते हैं, जीवन-यथार्थ द्वारा उभारे गए सवालों का जवाब देने में असमर्थ हैं। वे ऐसे विचार आगे लाने में असमर्थ हैं जो मेहनतकशों का मन जीत सकें। बढ़ते हुए वर्ग-संघर्ष का सामना करने के लिए, कुछ देशों में वित्तीय अल्प-तंत्र कठोर राजनैतिक प्रतिक्रियावाद का सहारा लेता है, वह पूंजीवादी-जनवादी स्वतंत्रताओं को समाप्त करके, तानाशाही फ़ासिस्ट अर्ध-फ़ासिस्ट शासनों की स्थापना कर देता है।

पूंजीवादी आम-संकट की ये सभी विशेषताएँ सार-रूप मे एक ही प्रक्रिया के विभिन्न रूप हैं। ये आतरिक रूप से जुड़ी हुई हैं और एक-दूसरे पर निर्भर हैं। पूंजीवाद के आम-संकट की मूलभूत अभिव्यक्तियों का वैज्ञानिक विश्लेषण आधुनिक युग—जो भूमंडलीय स्तर पर पूंजीवादी से समाजवाद और साम्यवाद की ओर क्रांतिकारी संक्रमण का युग है—की अंतर्वस्तु का अधिक गहरा ज्ञान पाने में सहायक होता है।

पूंजीवाद के आम-संकट की अवस्थाएँ—पूंजीवाद के आम-संकट के विकास ी विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं और हर अवस्था के अपने विशेष लक्षण होते हैं।

के आम-संकट की वर्तमान तीसरी अवस्था के प्रमुख लक्षणों का निर्धारण करता है।

तीसरी अवस्था का एक अन्य प्रमुख लक्षण राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों में शक्तिशाली नये उभार के कारण उपनिवेशी व्यवस्था का पूर्ण विखंडन है।

तीसरी अवस्था की एक विशिष्टता यह है कि इसका जन्म महायुद्ध के कारण नहीं हुआ है, बल्कि दो व्यवस्थाओं के बीच सह-अस्तित्व और आर्थिक-प्रतियोगिता के फलस्वरूप हुआ है। यह तथ्य पूँजीवादी सिद्धांतकारों द्वारा रचित इस मिथक को खंडित कर देता है कि मार्क्सवाद के अनुसार पूँजीवाद का विनाश युद्ध के द्वारा होगा और इसलिए मार्क्सवादी-लेनिनवादी युद्ध में रुचि रखते हैं। पूँजीवाद का पतन इसके भीतरी परस्पर प्रतिकूल अंतर्विरोधों के कारण होगा, इसलिए समाजवाद तब ही विजयी हो सकता है जब दो व्यवस्थाओं के बीच शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की स्थिति हो।

आठवें दशक के आरंभ मे सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों के प्रयत्न से अंतर्राष्ट्रीय तनाव-शैथिल्य की पक्षधर प्रवृत्तियाँ निरंतर मजबूत हुईं। उन वर्षों की विशेषताएँ थीं—समाजवादी समुदाय की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में दृढ़ता, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों की सफलता और तनाव-शैथिल्य का अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रभावी प्रवृत्ति बन जाना। सोवियत संघ व अन्य समाजवादी देशों की समन्वित विदेश नीति और अंतर्राष्ट्रीय वातावरण मे सामान्य स्थिति लाने के लिए शांतिकामी शक्तियों का संघर्ष सफल हुआ।

किन्तु 1980 के दशक के आरंभ में साम्राज्यवाद व प्रतिक्रियावाद की शक्तियाँ अधिक सक्रिय होने लगीं। वे स्वतंत्र देशों तथा जन-समूहों को अधीन करने के लिए प्रयत्नशील हैं। वे शस्त्र-दौड़ को बढ़ा रहे हैं और अन्य देशों के घरेलू मामलों में खुले तौर से हस्तक्षेप कर रहे हैं।

विश्व के जनगणों को यह अवश्य समझना चाहिए कि परमाणु-युद्ध के क्या गंभीर परिणाम होंगे। आज का अति-आवश्यक कार्य शांति की रक्षा है। सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की 26वीं कांग्रेस में प्रस्तुत केंद्रीय समिति की रपट में कहा गया था—"शांति की रक्षा करते हुए हम केवल आज जीवित मनुष्यों और अपने बेटे-पोतों की रक्षा के लिए ही काम नहीं कर रहे हैं, हम दर्जनों भावी पीढ़ियों की खुशी के लिए भी काम कर रहे हैं।"[1] रपट में इस दावे के झूठ को प्रकट किया गया है कि सोवियत संघ अमरीका से और वारसा-संधि के देश नाटो-देशों के ऊपर सैनिक-श्रेष्ठता पाने की कोशिश कर रहे हैं। "हमने दूसरे पक्ष पर सैनिक-श्रेष्ठता नहीं चाही है और न हम ऐसा चाहते हैं। यह हमारी नीति नहीं है, लेकिन हम

1 'समाजवाद और शान्ति', सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की 26वीं कांग्रेस, मास्को, 23 फरवरी—3 मार्च, 1981, पृ० 40।

अपने ऊपर ऐसी श्रेष्ठता पाने की अनुमति भी नहीं देंगे। इस तरह के प्रयत्न और हमसे 'शक्ति की स्थिति' से बातचीत करने की कोशिश पूरी तरह व्यर्थ होगी।"[1] सोवियत विदेश नीति की मुख्य दिशा सदैव युद्ध के खतरे को कम करना और—शस्त्र दौड़ पर रोक लगाना रही है।

1. दस्तावेज और प्रस्ताव—सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की 26वीं कांग्रेस, मास्को, 23 फरवरी-3 मार्च, 1981, पृ॰ 25-30।

के आम-संकट की वर्तमान तीसरी अवस्था के प्रमुख लक्षणों का निर्धारण करता है।

तीसरी अवस्था का एक अन्य प्रमुख लक्षण राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों में शक्तिशाली नये उभार के कारण उपनिवेशी व्यवस्था का पूर्ण विध्वंस है।

तीसरी अवस्था की एक विशिष्टता यह है कि इसका जन्म महायुद्ध के कारण नहीं हुआ है, बल्कि दो व्यवस्थाओं के बीच सह-अस्तित्व और आर्थिक-प्रतियोगिता के फलस्वरूप हुआ है। यह तथ्य पूंजीवादी सिद्धांतकारों द्वारा रचित इस मिथक को खंडित कर देता है कि मार्क्सवाद के अनुसार पूंजीवाद का विनाश युद्ध के द्वारा होगा और इसलिए मार्क्सवादी-लेनिनवादी युद्ध में रुचि रखते हैं। पूंजीवाद का पतन इसके भीतरी परस्पर प्रतिकूल अन्तर्विरोधों के कारण होगा, इसलिए समाजवाद तब ही विजयी हो सकता है जब दो व्यवस्थाओं के बीच शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की स्थिति हो।

आठवें दशक के आरंभ में सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों के प्रयत्न से अंतर्राष्ट्रीय तनाव-शैथिल्य की पक्षधर प्रवृत्तियाँ निरंतर मजबूर हुईं। इन वर्षों की विशेषताएँ थीं—समाजवादी समुदाय की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में दृढ़ता, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों की सफलता और तनाव-शैथिल्य का अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रधान प्रवृत्ति बन जाना। सोवियत संघ व अन्य समाजवादी देशों की समन्वित विदेश नीति और अंतर्राष्ट्रीय वातावरण में सामान्य स्थिति लाने के लिए शांतिकामी शक्तियों का संघर्ष सफल हुआ।

किन्तु 1980 के दशक के आरंभ में साम्राज्यवाद व प्रतिक्रियावाद की शक्तियाँ अधिक सक्रिय होने लगीं। वे स्वतंत्र देशों तथा जन-समूहों को अधीन करने के लिए प्रयत्नशील हैं। वे शस्त्र-दौड़ को बढ़ा रहे हैं और अन्य देशों के घरेलू मामलों में खुले तौर से हस्तक्षेप कर रहे हैं।

विश्व के जनगणों को यह अवश्य समझना चाहिए कि परमाणु-युद्ध के क्या गंभीर परिणाम होंगे। आज का अति-आवश्यक कार्य शांति की रक्षा है। सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की 26वीं कांग्रेस में प्रस्तुत केंद्रीय समिति की रपट में कहा गया था—"शांति की रक्षा करते हुए हम केवल आज जीवित मनुष्यों और अपने बेटे-पोतों की रक्षा के लिए ही काम नहीं कर रहे हैं, हम दर्जनों भावी पीढ़ियों की खुशी के लिए भी काम कर रहे हैं।"[1] रपट में इस दावे के झूठ को प्रकट किया गया है कि सोवियत संघ अमरीका से और वारसा-संधि के देश नाटो-देशों के ऊपर सैनिक-श्रेष्ठता पाने की कोशिश कर रहे हैं। "हमने दूसरे पक्ष पर सैनिक-श्रेष्ठता नहीं चाही है और न हम ऐसा चाहते हैं। यह हमारी नीति नहीं है, लेकिन हम

1. 'दस्तावेज और प्रस्ताव', सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की 26वीं कांग्रेस, मास्को, 23 फरवरी—3 मार्च, 1981, पृ० 40।

के आम-संकट की वर्तमान तीसरी अवस्था के प्रमुख लक्षणों का निर्धारण करता है।

तीसरी अवस्था का एक अन्य प्रमुख लक्षण राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों में शक्तिशाली नये उभार के कारण उपनिवेशी व्यवस्था का पूर्ण विघटन है।

तीसरी अवस्था की एक विशिष्टता यह है कि इसका जन्म महायुद्ध के कारण नहीं हुआ है, बल्कि दो व्यवस्थाओं के बीच सह-अस्तित्व और आर्थिक-प्रतियोगिता के फलस्वरूप हुआ है। यह तथ्य पूंजीवादी सिद्धांतकारों द्वारा रचित इस मिथक को खंडित कर देता है कि मार्क्सवाद के अनुसार पूंजीवाद का विनाश युद्ध के द्वारा होगा और इसलिए मार्क्सवादी-लेनिनवादी युद्ध में रुचि रखते हैं। पूंजीवाद का पतन इसके भीतरी परस्पर प्रतिकूल अंतर्विरोधों के कारण होगा, इसलिए समाजवाद तब ही विजयी हो सकता है जब दो व्यवस्थाओं के बीच शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की स्थिति हो।

आठवें दशक के आरंभ में सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों के प्रयत्न से अंतर्राष्ट्रीय तनाव-शैथिल्य की पक्षधर प्रवृत्तियाँ निरंतर मजबूर हुईं। उन वर्षों की विशेषताएँ थी—समाजवादी समुदाय की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में दृढ़ता, राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों की सफलता और तनाव-शैथिल्य का अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रभावी प्रवृत्ति बन जाना। सोवियत संघ व अन्य समाजवादी देशों की समन्वित विदेश नीति और अंतर्राष्ट्रीय वातावरण में सामान्य स्थिति लाने के लिए शांतिकामी शक्तियों का संघर्ष सफल हुआ।

किन्तु 1980 के दशक के आरंभ में साम्राज्यवाद व प्रतिक्रियावाद की शक्तियाँ अधिक सक्रिय होने लगीं। वे स्वतंत्र देशों तथा जन-समूहों को अधीन करने के लिए प्रयत्नशील हैं। वे शस्त्र-दौड़ को बढ़ा रहे हैं और अन्य देशों के घरेलू मामलों में खुले तौर से हस्तक्षेप कर रहे हैं।

विश्व के जनगणों को यह अवश्य समझना चाहिए कि परमाणु-युद्ध के क्या गंभीर परिणाम होंगे। आज का अति-आवश्यक कार्य शांति की रक्षा है। सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की 26वीं कांग्रेस में प्रस्तुत केंद्रीय समिति की रपट में कहा गया था—"शांति की रक्षा करते हुए हम केवल आज जीवित मनुष्यों और अपने बेटे-पोतों की रक्षा के लिए ही काम नहीं कर रहे हैं, हम दर्जनों भावी पीढ़ियों की खुशी के लिए भी काम कर रहे हैं।"[1] रपट में इस दावे के झूठ को प्रकट किया गया है कि सोवियत संघ अमरीका से और वारसा-संधि के देश नाटो-देशों के ऊपर सैन्य-श्रेष्ठता पाने की कोशिश कर रहे हैं। "हमने दूसरे पक्ष पर सैनिक-श्रेष्ठता ... और न हम ऐसा चाहते हैं। यह हमारी नीति नहीं है, लेकिन हम

[1] दस्तावेज़, सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की 26वीं कांग्रेस, मास्को, मार्च, 1981, पृ० 40।

अपने ऊपर ऐसी श्रेष्ठता पाने की अनुमति भी नहीं देंगे। इस तरह के प्रयत्न और हमसे 'शक्ति की स्थिति' से बातचीत करने की कोशिश पूरी तरह व्यर्थ होगी।"[1] सोवियत विदेश नीति की मुख्य दिशा सदैव युद्ध के ख़तरे को कम करना और—शस्त्र दौड़ पर रोक लगाना रही है।

करते हैं : धातु-वस्तुओं के उत्पादन का 80-95 प्रतिशत भाग प्रोदमेत सिंडीकेट के हाथों में संकेंद्रित था, कोयला-उद्योग पर पूरी तरह प्रोदुगोल सिंडीकेट का आधिपत्य था, दक्षिण रूस के खनिज-लौह उत्पादन के 80 प्रतिशत भाग का नियन्त्रण प्रोदरुद सिंडीकेट करता था, और देश के तांबा उत्पादन का 75 प्रतिशत भाग मेद सिंडीकेट द्वारा नियन्त्रित था। उच्च-स्तर का यह इजारीकरण रूस की अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में भी स्पष्ट था। इसके अलावा रूस के इजारेदार पूँजीवाद में राज्य-इजारेदार पूँजीवाद के रूप में विकसित होने की प्रवृत्ति भी दिखाई देती थी। इस प्रकार रूस में उत्पादन का उच्च-स्तरीय समाजीकरण हो गया था जो समाजवादी क्रांति के लिए वस्तुनिष्ठ परिस्थितियाँ प्रदान करता था।

इन वस्तुनिष्ठ परिस्थितियों के अलावा आवश्यक आत्मनिष्ठ परिस्थितियाँ *भी परिपक्व हो गयी थी—मज़दूर और विश्व के एक सर्वाधिक क्रांतिकारी मज़दूर* वर्ग का उदय हो चुका था। रूस में पूँजीवाद के विकास की लगभग आधी शताब्दी में औद्योगिक मज़दूर-वर्ग की संख्या में 300 प्रतिशत वृद्धि हुई थी और शताब्दी के आरम्भ में इनमें से आधे से ज्यादा बड़े उद्योगों में संकेंद्रित थे, जहाँ मज़दूरों ने *उच्चतम स्तर की राजनैतिक कार्यवाही की।* रूसी मज़दूर वर्ग गम्भीर वर्ग-संघर्षों में फौलादी हुआ था और नतीजतन उच्च-स्तर पर संगठित व राजनैतिक रूप से बहुत चेतन था। वह सभी प्रकार के शोषण व उत्पीड़न का कट्टर दुश्मन था। कस्बों और गाँवों में रूसी मज़दूर वर्ग के बहुत से साथी—विशेष रूप से मेहनतकश *किसान—थे।*

इस प्रकार अक्तूबर क्रांति की विजय रूस के समग्र सामाजिक-आर्थिक विकास की प्रगति के द्वारा निश्चित हुई थी। क्रांति की विजय बीसवीं शताब्दी की प्रमुख घटना थी। यह ऐसी घटना थी जिसने समग्र विश्व के विकास के मार्ग में परिवर्तन निश्चित कर दिया। समाजवादी अक्तूबर क्रांति इजारेदार पूँजीवाद के अन्तर्गत वर्ग-संघर्ष और सामाजिक विकास का स्वाभाविक परिणाम थी। इसकी विजय ने विश्व के प्रथम समाजवादी राज्य को जन्म दिया। विश्व का सबसे बड़ा देश—जो संसार में जनसंख्या की दृष्टि से तीसरे और कुल औद्योगिक उत्पादन की दृष्टि से पन्द्रहवें स्थान पर था—पूँजीवादी व्यवस्था से बाहर निकल आया। समाजवादी क्रांति ने रूस की जनता को साम्राज्यवादी युद्ध से बाहर निकाल लिया और उन्हें विदेशी पूँजी द्वारा दास बनाये जाने के भय से बचा लिया।

विश्व-पूँजीवादी व्यवस्था से रूस का अलगाव साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी के हितों पर भारी आघात था। अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद ने शोषण व सम्पदा लूटने के साथ औद्योगिक उत्पादनों का एक महत्वपूर्ण बाजार और पूँजी-विनियोग का क्षेत्र भी खो दिया। 1914 में रूस की संयुक्त स्टाक पूँजी के 47 प्रतिशत पर विदेशी पूँजी का नियन्त्रण था। यह लौह धातु-कर्म के लगभग 60 प्रतिशत, तेल-उद्योग के

और निर्णयों से अधिक बलशाली एक और शक्ति है। यह शक्ति विश्व के आम आर्थिक संबंध हैं जो उन्हें हमसे संबंध स्थापित करने के लिए मजबूर करते हैं।"[1] समाजवादी व पूँजीवादी राज्यों के बीच शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व, उत्पादक-शक्तियों के विकास व ऐतिहासिक रूप से रचित श्रम के अंतर्राष्ट्रीय विभाजन के कारण निर्मित वस्तुनिष्ठ आवश्यकता के रूप में उत्पन्न होता है।

शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का लेनिनवादी सिद्धांत, देशों के बीच विवादों के समाधान के लिए एक उपाय के रूप में युद्ध की अस्वीकृति की सबसे पहले माँग करता है। विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं वाले देशों के बीच शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की पूर्वापेक्षाएँ हैं—प्रत्येक देश (छोटे और बड़े दोनों) की क्षेत्रीय अखंडता, समानता व सार्वभौमिकता के सिद्धांत की परस्पर स्वीकृति व उसकी परिपालना और अन्य जनगणों के मामलों में अहस्तक्षेप। इसमें, सब राष्ट्रों द्वारा अपने लिए सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था के स्वतंत्र चुनाव के अधिकार का सम्मान और अनसुलझे अंतर्राष्ट्रीय विवादों का बातचीत द्वारा समाधान तथा इसके साथ पूर्ण समानता व परस्पर लाभ के आधार पर आर्थिक, सांस्कृतिक सहयोग का विकास भी शामिल है।

शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति, जिसका समाजवादी देशों द्वारा पालन किया जा रहा है, उनके अपने हितों को ही प्रकट नहीं करती है बल्कि संपूर्ण रूप में मानव-जाति के हितों को प्रकट करती है। शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व समाजवादी-व्यवस्था की आर्थिक शक्ति में विकास के लिए अनुकूल अंतर्राष्ट्रीय स्थिति का निर्माण करता है, मजदूर वर्ग के संघर्ष की दशाओं में सुधार करता है और उत्पीड़ित जनगणों के लिए उनके अपने राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष की समस्याओं से निपटने के कार्य को आसान बनाता है। शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व अंतर्राष्ट्रीय तनाव में वृद्धि व युद्ध की आग को भड़काकर साम्राज्यवादियों द्वारा अपने आंतरिक अंतर्विरोधियों पर क़ाबू पाने के प्रयत्नों को रोकता है।

इस नीति का अर्थ दो विरोधी विश्व-व्यवस्थाओं के बीच विरोध की समाप्ति नहीं है। पूँजीपति व सर्वहारा तथा समाजवाद व साम्राज्यवाद के बीच संघर्ष जारी रहेगा। साम्राज्यवादी युद्धों के खतरे के विरुद्ध शांति के लिए संघर्ष इस संघर्ष का अनिवार्य भाग है। शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व जीवन के सभी क्षेत्रों—अर्थव्यवस्था, राजनीति, विचारधारा व संस्कृति—में समाजवाद व पूँजीवाद के बीच द्वंद्व का सर्वाधिक तर्क-संगत और वांछनीय रूप है।

दो व्यवस्थाओं के बीच मुकाबले में आर्थिक-प्रतियोगिता का केन्द्रीय स्थान

1. वी० आई० लेनिन, 'सोवियतों की नवीं अखिल रूसी कांग्रेस, दिसम्बर 23-28, 1921', संकलित रचनाएँ, भाग 33, पृ० 155।

है। काफी पहले मई 1921 में लेनिन ने कहा था—"अब हम अपनी आर्थिक नीति के द्वारा अंतर्राष्ट्रीय क्रांति पर अपने मुख्य प्रभाव का प्रयोग कर रहे हैं। इस क्षेत्र मे संघर्ष अब विश्वव्यापी हो गया है। यदि हम इस समस्या को सुलझा लेंगे, तो निश्चित व अंतिम रूप से अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जीत जाएँगे।"[1]

दो व्यवस्थाओं के बीच आर्थिक प्रतियोगिता से यह प्रकट होता है कि कौन उत्पादक-शक्तियों का अधिक तेजी से विकास कर सकता है। विकास-दर, प्रति-व्यक्ति औद्योगिक उत्पादन, श्रम उत्पादकता, वैज्ञानिक-तकनीकी विकास का स्तर और सास्कृतिक स्तर व जीवन-स्तर इस आर्थिक प्रतियोगिता के मुख्य संदर्शक हैं।

इस आर्थिक प्रतियोगिता की शुरुआत में समाजवादी भारी असुविधा की स्थिति मे था। पहली समाजवादी क्रांति अपेक्षाकृत पिछड़े देश मे विजयी हुई थी। क्रांतिपूर्ण रूस मे विश्व के औद्योगिक उत्पादन के तीन प्रतिशत से थोड़ा ही अधिक भाग उत्पादित होता था, उसका कुल औद्योगिक उत्पादन सयुक्त राज्य अमेरिका के उत्पादन का आठवाँ हिस्सा था। विदेशी हस्तक्षेप व गृहयुद्ध के कारण यह अंतर और अधिक बढ गया जिससे देश में भूख और आर्थिक-अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गयी। 1920 मे सोवियत रूस के भारी उद्योग 1913 की तुलना मे सातवें भाग का उत्पादन कर रहे थे। इस्पात का उत्पादन 22 गुना कम हो गया था, विद्युत-ऊर्जा के उत्पादन में रूस विश्व में आठवें से अठारहवें स्थान पर उतर गया था और संयुक्त राज्य अमेरिका की तुलना मे सौवें भाग से भी कम उत्पादन कर रहा था। लेकिन बाद में सोवियत संघ ने थोड़े समय में ही, समाजवादी औद्योगीकरण और कृषि के सामूहिकीकरण सहित आश्चर्यजनक आर्थिक सुधार किये। समाजवादी उत्पादन सबंधों की स्थापना ने उत्पादक-शक्तियों के विकास के लिए अब तक अज्ञात अवसर देश को प्रदान किये।

समाजवादी अर्थव्यवस्था के लाभ का प्रमुख लक्षण पूंजीवादी विश्व की तुलना मे सोवियत सघ की तीव्र आर्थिक विकास-दरों मे प्रकट होता है। 1913 व 1940 के बीच सोवियत संघ में औद्योगिक उत्पादन 670 प्रतिशत बढ़ा जबकि अमेरिका के लिए यह सख्या 110 प्रतिशत थी और अन्य पूंजीवादी देशों में इससे भी काफी कम थी। 1913 की तुलना मे सोवियत संघ ने 1940 मे 24 गुना अधिक ऊर्जा उत्पादित की जबकि सयुक्त राज्य अमेरिका में इसी अवधि मे 6 6 गुना वृद्धि हुई। इसी अवधि के लिए अन्य क्षेत्रों में तुलनात्मक उत्पादन-वृद्धियाँ इस प्रकार थी—क्रमशः लोहा 250 प्रतिशत व 35 प्रतिशत, इस्पात 330 प्रति- 83 प्रतिशत और सीमेंट 220 प्रतिशत व 42 प्रतिशत। 1940 में कुल

[1] व्ला॰ इ॰ लेनिन, रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शे॰) की दसवीं अखिल रूसी कान्फ्रेंस, 26-28, 1921', संकलित रचनाएं, [illegible]

औद्योगिक उत्पादन की दृष्टि से सोवियत संघ विश्व में पाँचवें स्थान से दूसरे स्थान और यूरोप में चौथे स्थान से पहले स्थान पर आ गया था। विश्व के औद्योगिक उत्पादन में इसका भाग बढ़कर दस प्रतिशत हो गया था।

यह सब पूँजीवादी विश्व से आर्थिक प्रतियोगिता के आरंभिक दो दशकों में (जब तक कि हिटलरी जर्मनी के विश्वासघातपूर्ण आक्रमण ने सोवियत संघ को पुन: देश की रक्षा व शत्रु के विनाश के लिए अपनी आर्थिक शक्ति का प्रयोग करने के लिए विवश नहीं कर दिया) समाजवाद की भारी विजय का संदर्शक है।

2. दो विरोधी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थाओं के बीच संघर्ष और पूँजीवाद के आम-संकट का गहरा होना

दूसरा महायुद्ध इस युद्ध में भागीदार देशों के लिए भिन्न-भिन्न रूप में समाप्त हुआ। कुछ देश विजेताओं में थे, कुछ अन्य पराजितों में। कुछ देश युद्ध से मज़बूत होकर निकले, कुछ कमज़ोर हो गए। समग्र रूप में साम्राज्यवादी व्यवस्था के लिए युद्ध भारी पराजय सिद्ध हुआ। युद्ध पूँजीवाद को आम-संकट से बाहर निकालने में ही असफल नहीं रहा बल्कि उल्टे उसका परिणाम इस संकट को और अधिक उग्र बनाना रहा।

सोवियत जनगण की विजय और नाज़ी जर्मनी, फ़ासिस्ट इटली व सैन्यवादी जापान की हार समस्त विश्व के लिए ऐतिहासिक महत्त्व की कहानी थी। यूरोप और एशिया के बहुत से देशों में समाजवादी क्रांति के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं। समाजवाद एक देश की सीमा से बाहर निकलकर विश्व-व्यवस्था बन गया। रूस में अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना थी।

विश्व-समाजवादी व्यवस्था की स्थापना ने एक नए प्रकार के अंतर्राज्यीय संबंधों—पूर्ण समानता, राष्ट्रीयता-स्वतंत्रता, सार्वभौमिकता, भ्रातृत्वपूर्ण सहयोग और परस्पर सहायता पर आधारित संबंधों की स्थापना की। ये संबंध दोनों प्रकार के हितों—समग्र विश्व-समाजवादी व्यवस्था के हित और वैयक्तिक समाजवादी राज्यों के राष्ट्रीय हितों को स्वीकार करते थे। समाजवादी व्यवस्था के भीतर ये संबंध समाजवादी देशों के एक समान सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक आधारों से और उनके सामुदायिक वर्ग-हित व उद्देश्यों से उत्पन्न होते हैं।

दूसरे महायुद्ध के बाद जिन देशों ने समाजवादी राह स्वीकार की, वे पहले साम्राज्यवादी शोषण के शिकार थे। युद्ध से पहले पोलैंड की औद्योगिक जमापूँजी के दो-तिहाई से अधिक भाग और बुलगेरिया की आधी से अधिक व हंगरी की एक-तिहाई संयुक्त-स्टाक पूँजी पर विदेशियों का अधिकार था। विदेशी इजारेदार कम्पनियाँ कुल औद्योगिक पूँजी के लगभग 50 प्रतिशत भाग पर नियन्त्रण

रखते थे। साम्राज्यवादी देशों के इजारेदार पूँजीपति इन देशों की राष्ट्रीय आय का एक बड़ा हिस्सा अपनी तिजोरियों में भरने के लिए बाहर ले जाते थे।

केन्द्रीय व दक्षिणी पूर्वी यूरोप के अनेक देशों को पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था से प्रस्थान, इन देशों में विदेशी संपत्ति के राष्ट्रीयकरण और विदेशी-व्यापार पर राज्य के एकाधिकार की स्थापना ने इन देशों के जनगण को विदेशी-अधीनता से बचा लिया। जब एशिया के अनेक देशों ने भी समाजवादी विकास का रास्ता चुन लिया तो साम्राज्यवादी इजारेदारियों को गंभीर आर्थिक नुकसान हुआ। क्यूबा में समाजवादी क्रांति की विजय साम्राज्यवाद को एक और नया आघात था। पूँजीवादी शोषण के क्षेत्र में और अधिक कमी से विश्व-पूँजीवाद आर्थिक रूप से कमजोर हुआ, पूँजीवादी व्यवस्था में अस्थिरता बढ़ी और साम्राज्यवादी देशों के बीच तथा उन देशों के भीतर भी अंतर्निहित (मौजूद) अंतर्विरोधों में वृद्धि हुई।

आर्थिक प्रतियोगिता के दौरान समाजवाद ने यह दिखा दिया है कि जहाँ तक बहुत-से आर्थिक मदों का सवाल है, यह पूँजीवाद की तुलना में अधिक श्रेष्ठ व्यवस्था है (देखें, सारणी-1)। समाजवादी उत्पादन की प्रगति के अनेक कारण हैं जिनमें वैज्ञानिक-तकनीकी प्रगति के फलों का प्रयोग भी शामिल है। उत्पादन विकास-दर अन्तिम रूप से आर्थिक प्रतियोगिता के परिणामों को निर्धारित करती है। वे यह बताती हैं कि कौन-सी व्यवस्था जनगणना की रचनात्मक ऊर्जा व जनगण द्वारा निर्मित उत्पादन साधनों का आर्थिक तर्कसंगत रूप से उपयोग कर सकती है और अत्यन्त प्रभावी तरीके से सामाजिक उत्पादन का संगठन कर सकती है।

सारिणी-1 के आँकड़े यह बतलाते हैं कि समाजवादी देशों की औसत आर्थिक विकास-दर पूँजीवादी देशों की तुलना में लगभग दुगनी रही है। 1950 के आँकड़ों की तुलना में 1979 में समाजवादी देशों में औद्योगिक उत्पादन 14 गुना अधिक था जबकि विकसित पूँजीवादी देशों में चार गुना था। 1979 में समाजवादी देशों में 1937 के आँकड़ों की तुलना में औद्योगिक उत्पादन 24 गुना अधिक था जबकि इसी अवधि में पूँजीवादी देशों में औद्योगिक उत्पादन 6.25 गुना ही बढ़ा। दूसरी ओर यदि हम सम्पूर्ण समाजवादी विश्व के उत्पादन की तुलना 1937 के समाजवादी देशों (अर्थात् सोवियत संघ और मंगोलिया) के उत्पादन से करें तो यह वृद्धि 46 गुना होगी जबकि पूँजीवादी देशों में वृद्धि 5.6 गुना रही। इस प्रकार 1950 और 1969 के बीच विश्व के औद्योगिक उत्पादन में समाजवादी देशों का हिस्सा दुगना हो गया। 1950 में यह लगभग 20 प्रतिशत था और 1973 में 43 प्रतिशत से अधिक। इसके साथ समाजवादी देशों का औद्योगिक उत्पादन विकसित पूँजीवादी देशों के औद्योगिक उत्पादन के 75 प्रतिशत से कुछ अधिक है।

सारणी-1

समाजवादी और अन्य देशों में औद्योगिक प्रगति

(1950 के प्रतिशत-अनुसार)

			दोनों शामिल करते हुए		
वर्ष	समस्त विश्व	समाजवादी देश	अन्य देश	औद्योगिक पूँजीवादी देश	विकासशील देश
1950	100	100	100	100	100
1955	147	191	135	132	156
1956	156	211	141	138	169
1957	164	234	145	142	183
1958	171	274	143	138	192
1959	192	327	159	155	208
1960	206	354	167	160	233
1965	285	501	227	218	329
1970	388	723	298	284	459
1979	623	14 गुना	421	391	747
औसत वार्षिक वृद्धि 1951-79 प्रतिशत में	6.5	9.5	5.1	4.8	7.2

सोवियत संघ और अमरीका के बीच आर्थिक प्रतियोगिता का, दो विश्व-व्यवस्थाओं के बीच आर्थिक प्रतियोगिता में विशेष महत्व है। दोनों देशों के पास आश्चर्यजनक भौतिक व तकनीकी साधन हैं। सोवियत संघ विश्व-समाजवादी व्यवस्था द्वारा उत्पादित भौतिक वस्तुओं के अत्याधिक मात्रा का उत्पादन करता है जबकि अमरीका विश्व के पूँजीवादी उत्पादन के लगभग 40 प्रतिशत का उत्पादन करता है।

महायुद्ध के बाद की लगभग सारी अवधि के आँकड़े यह बताते हैं कि जहाँ तक प्रमुख आर्थिक-प्रदर्शकों की औसत वार्षिक वृद्धि दरों का सवाल है, सोवियत संघ अमरीका से काफी आगे है (देखिए सारणी-2)।

पिछले दशक मे सोवियत संघ ने अपने औद्योगिक उत्पादन के परिमाण को दुगना कर लिया है। ऐसा करने के लिए ब्रिटेन को 25 वर्ष, पश्चिमी जर्मनी को 18 वर्ष, फ्रांस को 27 वर्ष और अमरीका को 16 वर्ष की ज़रूरत होती है।

पूंजीवाद के साथ आर्थिक प्रतियोगिता मे समाजवाद की विजय की एक मुख्य शर्त उच्चतर श्रम उत्पादकता प्राप्त करना है। इस संबंध में लेनिन ने लिखा है—"पूंजीवाद पूरी तरह परास्त किया जा सकता है और एक नयी व काफी उच्चतर श्रम-उत्पादकता को प्राप्त करते हुए समाजवाद द्वारा पूरी तरह परास्त किया भी जाएगा।"[1]

विश्व-समाजवादी व्यवस्था के देशों मे श्रम-उत्पादकता की दरें विकसित पूंजीवादी देशो की तुलना मे तेज़ गति से बढ रही हैं और दोनों के बीच का अंतर कम होता जा रहा है। 1951-79 के बीच सोवियत संघ मे औद्योगिक श्रम-उत्पादकता की वार्षिक औसत वृद्धि 5.8 प्रतिशत थी जबकि अमरीका की वृद्धि-दर 4.2 प्रतिशत थी। (देखिए सारणी-2)

उत्पादन के कुल क्षेत्रों के महत्व के बावजूद आर्थिक विकास के स्तर का मुख्य सदर्शक भौतिक संपदा का प्रतिव्यक्ति उत्पादन है। यद्यपि समाजवादी देश अभी अधिकांश विकसित पूंजीवादी देशो के आर्थिक-विकास के स्तर तक नही पहुँच पाये हैं, लेकिन जीवन-स्तरों के अनेक संदर्शकों मे वे विकसित पूंजीवादी देशों से अभी भी श्रेष्ठतर हैं। समाजवादी समुदाय के देशो मे, जहाँ परजीवी उपभोग करनेवाला कोई शोषक-वर्ग नही है, राष्ट्रीय आय का उपयोग जनगण के कल्याण-कार्यों में सुधार व समाजवादी-उत्पादन के विस्तार के लिए किया जाता है। समाजवादी समुदाय के देशों मे बेरोज़गारी नही है और वहाँ लिंग, जाति अथवा राष्ट्रीयता के भेदभाव के बिना समान कार्य के लिए सबको समान वेतन मिलता है। समाज के सभी सदस्यों लिए निःशुल्क शिक्षा और निःशुल्क चिकित्सा-सेवाओं की गारंटी है। सोवियत संघ ने संस्कृति, शिक्षा, स्वास्थ्य, लोक-कल्याण आदि के अनेक क्षेत्रों में अमरीका को पीछे छोड़ दिया है। उत्पादन-क्षमता के विस्तार ने समाजवादी देशों को जीवन-स्तरों के कुछ खास संदर्शकों में—जैसे प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय, मूलभूत खाद्य-पदार्थों व औद्योगिक उत्पादों का प्रतिव्यक्ति औसत उपभोग—अधिकांश विकसित पूंजीवादी देशों से आगे निकल जाने मे समर्थ बना दिया है। इसका कारण आर्थिक विकास की उच्च दरें और वैज्ञानिक व तकनीकी क्रांति द्वारा प्रस्तुत संभावनाओं का उपयोग है।

समाजवादी व पूंजीवादी व्यवस्थाएँ वैज्ञानिक व तकनीकी क्रांति के सुफलों के

1. वी० आई० लेनिन, 'एक महत्वपूर्ण शुरुआत, मोर्चा के पिछले भाग में कम्युनिस्ट सुब्बोत्निकों में मजदूरों की वीरता', संकलित रचनाएँ, भाग 29, पृ० 427 (अंग्रेजी में)।

उपयोग की मूलत. भिन्न संभावनाओं को जन्म देती हैं। पूँजीपति वर्ग बाजार में अपनी स्थिति को मजबूत करने व अधिकतम लाभ पाने के लिए इन उपलब्धियों का प्रयोग करने की कोशिश करता है। प्रमुख पूँजीवादी देशों में सैन्य-औद्योगिक-समूह सैनिक उद्देश्यों के लिए वैज्ञानिक व तकनीकी प्रगति की उपलब्धियों का अधिक-से-अधिक प्रयोग कर रहा है। इससे भौतिक-सामग्री, श्रम व वित्तीय संसाधनों का भारी अपव्यय हुआ है और अर्थव्यवस्था में वैषम्य की स्थिति उत्पन्न होती है। इसके अलावा यह स्थिति मुद्रा-स्फीति को जन्म देती है व इन क्रांतिकारी उपलब्धियों के प्रसार को रोकती है।

पूँजीवादी विश्व में वैज्ञानिक व तकनीकी क्रांति वर्तमान सामाजिक-विरोधों के क्षेत्र को बढ़ाती है और नए विरोध उत्पन्न करती है। उदाहरण के लिए, औद्योगिक-चक्र की चाहे कोई भी विशिष्ट अवस्था हो, स्वचालन बड़ी मात्रा में कार्य-अवसरों को अनावश्यक बनाकर कम कर रहा है और इस प्रकार बेरोजगारी में वृद्धि कर रहा है। कृषि का औद्योगीकरण व श्रम-उत्पादकता में तीव्र-वृद्धि व्यापक स्तर पर किसानों की बरबादी तथा कष्टदायक व विध्वंसक सामाजिक-ध्रुवीकरण से जुड़ी हुई है।

विज्ञान और तकनीक के अनेक क्षेत्रों में समाजवादी देश विश्व का नेतृत्व करते हैं। उदाहरण के लिए, इसे अन्तरिक्ष अनुसंधान में सोवियत उपलब्धियों, परमाणु-शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग, असीम-ऊर्जा केंद्र निर्माण में प्रवीणता, लम्बी दूरियों पर अति उच्च वोल्टेज, ऊर्जा का सम्प्रेषण आदि में देखा जा सकता है। सोवियत संघ अनवरत इस्पात ढलाई की तकनीक में विश्व में पहले स्थान पर है और अनेक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में औद्योगिक-उपकरणों के संचालन में इसके तकनीकी व आर्थिक परिणाम अमरीका की तुलना में उच्चतर हैं। समाजवादी देशों ने अपनी अर्थ-व्यवस्था में काम करने वाले कुशल कर्मियों की एक विशाल सेना तैयार करके वैज्ञानिक-तकनीकी क्रांति को और आगे विकसित करने के लिए ठोस आधारशिला की स्थापना कर ली है।

जहाँ तक शोध-कार्य के लिए राष्ट्रीय आय में खर्च के प्रतिशत का सवाल है, सोवियत संघ ने अमरीका की बराबरी कर ली है और उसने पश्चिमी यूरोप के विक-सित देशों का 100 प्रतिशत से पीछे छोड़ दिया है। पारस्परिक आर्थिक सहायता परिषद के अन्य समाजवादी सदस्य देशों में शोध व विकास के लिए राष्ट्रीय आय से खर्च का हिस्सा पिछले दशक में 100-200 प्रतिशत बढ़ गया है। समाजवाद के [illegible] वैज्ञानिक शोध-अनुसंधानों के समानुरूप शोध व विकास के [illegible] किया जा सकता है। इससे समाजवादी देश अर्थव्यवस्था [illegible] क्षेत्रों में निश्चित [illegible] के मद्देनज़र में समर्थ हो जाते हैं [illegible] समस्याओं को शीघ्रता से सुलझाया जा सके।

परस्परिक आर्थिक सहायता परिषद् के सदस्य देशों के बीच आर्थिक वैज्ञानिक व तकनीकी सहयोग को आगे बढाने मे 1971 का समाजवादी आर्थिक एकीकरण का व्यापक कार्यक्रम प्रमुख भूमिका अदा करेगा।

वर्तमान समाजवाद की आर्थिक शक्ति मे सुस्थिर वृद्धि, विश्व क्रांतिकारी प्रक्रिया को तीव्र करने व पूँजीवाद के आम-सकट को गहरा बनाने का एक प्रमुख कारक है। समाजवादी देशों मे जीवन-स्तरो मे सुस्थिर वृद्धि, दो सामाजिक व्यवस्थाओं के बीच ऐतिहासिक विवाद मे एक कायल करने वाला तर्क है।

लेनिन ने अपने समय मे ही बताया था कि विजयी समाजवाद आर्थिक-विकास मे अपनी उपलब्धियों के द्वारा ही विश्व-क्राति के विकास को मुख्य रूप से प्रभावित करेगा।

अध्याय : 3

साम्राज्यवाद की उपनिवेशी व्यवस्था का संकट और पतन

साम्राज्यवाद की उपनिवेशी व्यवस्था का संकट व पतन पूँजीवाद के आम-संकट का अनिवार्य भाग एवं एक प्रमुख लक्षण है। नए देश, जो राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर चुके हैं और आर्थिक आत्मनिर्भरता के लिए संघर्ष कर रहे हैं, एक समय के विशाल उपनिवेशी साम्राज्यों के खंडहरों के ऊपर प्रकट हुए हैं। विकासशील देशों में से कुछ ने विकास का ग़ैर-पूंजीवादी रास्ता चुना है। इस प्रकार लेनिन का यह पूर्व अनुमान सच हो रहा है कि उपनिवेशी और पराधीन देशों के जनगण राष्ट्रीय मुक्ति के लिए संघर्ष आरंभ करने के बाद शोषक व्यवस्था की आधार-शिलाओं के विरुद्ध संघर्ष करने की ओर बढ़ेंगे। उपनिवेशी व्यवस्था का पतन साम्राज्यवाद के लिए एक नया शक्तिशाली आघात था और इसने उसकी राजनीतिक, आर्थिक स्थितियों को भरपूर मात्रा में निर्बल किया। उपनिवेशी-व्यवस्था का संकट और पतन, विश्व के दो विरोधी सामाजिक, आर्थिक व्यवस्थाओं में विभाजन के बाद शुरू होने वाले पूंजीवाद के आम-संकट की दूसरी महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

1. उपनिवेशी व्यवस्था का पतन : पूंजीवाद के आम-संकट की एक अभिव्यक्ति

[illegible] की उपनिवेशी व्यवस्था का संकट उपनिवेशी विश्व में उस [illegible] संघर्ष के तीव्र हो जाने को सूचित करता है जो उपनिवेशी व पराधीन [illegible] के ऊपर साम्राज्यवाद के प्रभुत्व को पहले निर्बल बनाता है और फिर [illegible] है।

उपनिवेशी व्यवस्था के संकट के कारणों की जड़ इसके गहरे आंतरिक अन-

विरोधों मे है, मुख्य रूप से साम्राज्यी देश के साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग तथा पराधीन देशों के जनगण के बीच अंतर्विरोधों मे तीक्ष्ण वृद्धि और साम्राज्यवाद के उपनिवेशी जुए की व्यवस्था तथा उपनिवेशों मे उत्पादक-शक्तियों के बीच द्वंद्व की स्थिति मे है। साम्राज्यवादी राज्यों द्वारा उपनिवेशी देशों का शोषण और जिन आर्थिक संबंधों को वे स्थापित करते हैं, वे समग्र उपनिवेशी विश्व मे उत्पादक-शक्तियों के विकास को रोकते हैं। जिन जनगणों ने प्राचीनकाल से विश्व-सभ्यता मे मूल्यवान भौतिक व आध्यात्मिक योगदान दिया है, साम्राज्यवाद के कारण अब वे स्वयं को सामाजिक, आर्थिक पिछड़ेपन के चंगुल मे फँसा पाते हैं और उनके प्रचुर रूप से समृद्ध प्राकृतिक संसाधन हिंसात्मक तरीकों से लूटे जाते हैं।

पराधीन देशों मे उपनिवेशी संबंधों की व्यवस्था के विनाश और राष्ट्रीय मुक्ति क्रांतियों की सफलता के लिए वस्तुनिष्ठ ही नहीं, आत्मनिष्ठ स्थितियाँ भी परिपक्व हुई। पूंजीवाद के विकास के साथ, राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग, राष्ट्रीय बुद्धिजीवी और मजदूर वर्ग का भी निर्माण हुआ। ये वे राजनैतिक शक्तियाँ थीं जो उपनिवेशी शासनों के विरुद्ध कार्य करने के लिए जनगणों को आंदोलित कर सकती थीं।

विदेशी इजारेदारों के कारखानों व बागानों के मजदूर भूखों मरने लायक ही मजदूरी पाते थे और उन्हें साम्राज्यी देश के मजदूर वर्ग को प्राप्त आर्थिक-राजनैतिक अधिकारों मे कुछ थोड़े अधिकार ही दिये गये थे। स्थानीय राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के कारखानों को विदेशी उत्पादनों से प्रतियोगी संघर्ष मे अत्यंत कठिन समय का सामना करना होता था। इससे राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग मे असंतोष उत्पन्न हुआ। इसका अपवाद स्थानीय पूंजीपति वर्ग का वह हिस्सा था जो मेहनतकशों के शोषण मे विदेशी पूंजी की मदद करता था। इस समूह—*तथाकथित दलाल* पूंजीपति वर्ग—ने उपनिवेशी शासन का समर्थन किया।

उपनिवेशी व्यवस्था स्थानीय किसानों की शत्रु थी, जो उपनिवेशवादी और 'अपने' जमींदार दोनों से ही शोषित होते थे। इसी कारण किसान वर्ग ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष मे सक्रिय भाग लिया। इसने राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन को व्यापक स्वरूप दिया क्योंकि पराधीन देशों की जनसंख्या मे किसान ही सबसे बड़ा भाग है।

कुछ विकासशील देशों मे सामुदायिक व्यवस्था के अवशेष अभी भी मजबूत हैं, उदाहरण के लिए अनेक अफ्रीकी देशों मे किसानों द्वारा कृषि-कार्य का आधार सामुदायिक सम्पत्ति है। इस कारण वहाँ राष्ट्रीय मुक्ति क्रांति का नेतृत्व अधिक प्रगतिशील सस्तरों व सामाजिक समूहों—जैसे राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग, बुद्धिजीवी, छोटी पूंजी वाले लोग तथा सेना के प्रतिनिधियों—द्वारा किया जाता है और सभी सामंत-विरोधी व साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तियाँ उनके चारों तरफ एकत्र हो जाती हैं।

रूस में समाजवादी क्रांति की विजय उपनिवेशी जनगणों के सामने राष्ट्रीय व सामाजिक मुक्ति के लिए संघर्ष करने की एक अपील और उदाहरण थी। इस तथ्य ने कि सोवियत संघ में जातीय प्रश्न का समाधान कर लिया गया है, उपनिवेशी जनगणों को आत्ममुक्ति और उपनिवेशी शोषण के परिणामों पर विजय पाने का रास्ता दिखाया।

उपनिवेशी व पराधीन देशों में, विशेष रूप से पहले महायुद्ध के बाद, नवजात पूँजीवाद का उदय राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन को सक्रिय बनाने में सहायक हुआ। युद्ध के दिनों में साम्राज्यी देश व उपनिवेशों के बीच आर्थिक संबंध या तो विच्छिन्न हो गये या कम हो गये। और औद्योगिक उत्पादों का निर्यात तेज़ी से गिरा। इसने उपनिवेशों में उद्योग के विकास तथा स्थानीय राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग व सर्वहारा वर्ग के विकास को प्रोत्साहित किया। जैसे ही इसने साम्राज्यवाद को समग्र रूप में कम-ज़ोर किया, युद्ध ने उसे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के प्रहारों के सामने अधिक नाज़ुक बना दिया।

रूस की समाजवादी अक्तूबर क्रांति से प्रभावित होकर चीन, भारत और हिन्देशिया में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों की एक लहर आयी। तुर्की में राष्ट्रीय क्रांति हुई, मोरक्को व अफ़ग़ानिस्तान में मुक्ति युद्ध हुए और हिन्द चीन, फ़िलिपीन व कोरिया में जन-विद्रोह हुए। 1921 में मंगोलिया में लोक-क्रांति हुई जिसने सोवियत संघ की प्रत्यक्ष सहायता से समाजवादी समाज का निर्माण आरंभ किया। 1922 में तुर्की में गणतंत्र की घोषणा हुई। मिस्र के जनगण ने भी अपनी स्वतंत्रता एवं स्वाधीनता के लिए बहादुरी से संघर्ष किया और 1922 में ब्रिटेन मिस्र को आंशिक स्वतंत्रता देने के लिए विवश हुआ। इसी समय ईरान ने भी आंशिक स्वतंत्रता प्राप्त की। उपनिवेशी जुए के विरुद्ध संघर्ष में पराधीन राष्ट्र विश्व के पहले समाजवादी राज्य के अनुभव व समर्थन पर भरोसा करने में समर्थ थे।

लेकिन पूँजीवाद के आम-संकट के आरंभिक युग में उपनिवेशी व पराधीन देशों में क्रांतिकारी कार्य सदैव वास्तविक स्वतंत्रता की ओर नहीं बढ़े। यद्यपि साम्राज्यवादी शक्तियों ने कुछ देशों, जैसे ईरान, सीरिया एवं अन्य, को आंशिक स्वतंत्रता दी, फिर भी वे उन्हें साम्राज्यवाद पर निर्भर बनाये रखने में सफल रहीं। 1920 व 1930 के दशक में भी साम्राज्यवादी शक्तियाँ अधिकांश उपनिवेशी व पराधीन देशों में राजनैतिक प्रभुत्व बनाये रखने में सफल रहीं। मज़दूर वर्ग की सापेक्ष निर्बलता, किसानों की कार्रवाइयों की असंगठित प्रकृति और संयुक्त राष्ट्रीय साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चा, जो देश-विशेष की सारी राजनैतिक शक्तियों को संघटित कर सकता था, के अभाव के कारण ही वे ऐसा करने में समर्थ हुईं।

लेकिन, ऐसा होने पर भी, इस अवधि के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का महत्व अधिक है। जो उपनिवेशी व पराधीन देश पहले साम्राज्यवाद की मरोंसा

आरक्षित शक्ति थे, वे अब तनावपूर्ण राजनैतिक संघर्षों के क्षेत्र बन गये। इन उपनिवेशी देशों में राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष के विकास ने यह दिखाया कि इन देशों के खुले शोषण का युग अब अटल रूप में भूतकाल की चीज़ हो गया है और मुक्ति क्रांतियों का युग—कभी उत्पीड़ित रहे जनगणों के जागरण व विश्व-क्रांतिकारी आंदोलन में उनके शामिल होने का युग—शुरू हो गया है।

दूसरे महायुद्ध के दौरान और युद्ध बाद के आरम्भिक दशकों में अर्थात् पूंजीवाद के आम-संकट की दूसरी अवस्था में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन गुणात्मक रूप से एक नये स्तर तक विकसित हुए। इसमें साम्राज्यवाद की उपनिवेशी व्यवस्था की इमारत भरभराकर गिर पड़ी। साम्राज्यवाद की उपनिवेशी व्यवस्था के संकट के बाद उसका पतन आया जो सार रूप में ऐसी प्रक्रिया थी जिसमें साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा उपनिवेशी व पराधीन देशों के उत्पीड़न पर आधारित आर्थिक-राजनैतिक संबंधों का अंत हुआ और भूतपूर्व उपनिवेशों में नये स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हुई।

दूसरे महायुद्ध के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष को आगे बढ़ाने वाली घरेलू व अंतर्राष्ट्रीय, दोनों ही परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन हुए। राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के निरन्तर विकास के लिए यूरोप में फासीवाद पर विजय और एशिया में सैन्यवादी जापान की हार बहुत महत्त्वपूर्ण थी। सोवियत संघ की विजय ने यह दिखला दिया कि समाजवाद की भूमि अजेय है और वह साम्राज्यवाद-विरोधी विश्व-संघर्ष का केन्द्रीय स्तंभ है। इसके साथ हिटलरी जर्मनी व सैन्यवादी जापान—अंतर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद की सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ—जो सबसे अधिक शर्मनाक क़िस्म के जातिवाद तथा राष्ट्रीय उत्पीड़न का समर्थन करती थीं—की हार समकालीन साम्राज्यवाद की संपूर्ण विचारधारा की गंभीर पराजय व मुक्ति के विचारों की विजय को प्रकट करती थी। यूरोप व एशिया के अनेक देशों में समाजवादी क्रांति की विजय तथा उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न विश्व-समाजवादी व्यवस्था राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के और आगे विकास के लिए निर्णायक महत्त्व की थी।

पूंजीवाद के आम-संकट की पहली अवस्था में सोवियत संघ उपनिवेशी जनगण को मुख्य रूप से नैतिक व राजनैतिक समर्थन ही दे सका था। नयी स्थिति में, केवल सोवियत संघ ही नहीं, संपूर्ण विश्व-समाजवादी व्यवस्था साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में उपनिवेशी विश्व को सहायता दे रही है। यह सहायता नैतिक-व राजनैतिक समर्थन तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसमें आर्थिक व सैनिक सहायता भी शामिल है।

दूसरे महायुद्ध के तुरंत बाद एशिया उपनिवेशी शासनों के विरुद्ध संघर्ष का मुख्य क्षेत्र बन गया। राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के [illegible]

बाद भारत और पाकिस्तान को स्वतंत्रता देने के लिए बाध्य हुआ। हिन्देशिया, बर्मा, श्रीलंका का गणराज्य और अन्य एशियाई देशों ने भी उपनिवेशी शासनों को उखाड़ दिया। 1944 व 1954 के बीच 15 एशियाई देशों ने, जो सभी साम्राज्यवादी शक्तियों के भूतपूर्व उपनिवेश थे, स्वतंत्रता प्राप्त की। अफ्रीका में भी उपनिवेशी व्यवस्था का पतन निकट दिखाई दे रहा था। अनेक देशों ने जैसे मिस्र, सूडान, ट्यूनेशिया और मोरक्को ने स्वतंत्रता प्राप्त की। साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा उपनिवेशी विश्व में राष्ट्रीय पुनर्जागरण की प्रक्रिया को बलपूर्वक रोकने व भूतपूर्व उपनिवेशी व्यवस्था को पुनर्स्थापित करने के प्रयत्न असफल रहे।

पूंजीवाद के आम-संकट की आरंभिक तीसरी अवस्था, जो 1950 के दशक के उत्तरार्ध में आरम्भ हुई, का मुख्य लक्षण साम्राज्यवाद का और अधिक निर्बल होना था। इसे उपनिवेशी व्यवस्था के निर्णायक पतन उपनिवेशों को पूर्ण राजनैतिक मुक्ति और आर्थिक स्वतंत्रता के लिए विकासशील देशों के तीव्र संघर्ष में देखा जा सकता है। एशिया में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन चलता रहा—उस समय मध्य-पूर्व (पश्चिमी एशिया) उपनिवेश-विरोधी संघर्ष का मुख्य केंद्र हो गया था। अरब देशों के संघर्ष ने मध्य-पूर्व व अफ्रीका में साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद के विरुद्ध समग्र संघर्ष पर सकारात्मक प्रभाव डाला। साम्राज्यवाद व इज़रायली आक्रमण के विरुद्ध यह संघर्ष, स्वतंत्रता और समाजवाद की विश्वव्यापी शक्तियों को अंतर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध खड़ा करने वाले आम-संघर्ष का अभिन्न भाग था।

अफ्रीका में भी भारी परिवर्तन हुए। अकेले 1960 में 17 अफ्रीकी उपनिवेशों ने स्वतंत्रता प्राप्त की और 1980 के दशक के आरम्भ में अफ्रीका में 50 से अधिक सार्वभौम देश हो गये थे। गिनी-बिसाऊ, मोज़ाम्बिक और अंगोला के जनगण ने कठिन संघर्षों के बाद अपनी स्वतंत्रता प्राप्त की। देशभक्त क्रांतिकारी जनवादी संगठनों—मोज़ाम्बिक की मुक्ति के लिए मोर्चा (फ्रीलिमो), केपवर्ड द्वीप व गिनी-बिसाऊ के क्रांतिकारी दल और अंगोला की मुक्ति का लोकप्रिय आंदोलन (एम० पी० एल० ए०), जो उपनिवेशी जनगणों के मुक्ति-संघर्ष के हरावल दस्ते हैं—के नेतृत्व में इन देशों के जनगणों ने पुर्तगाली साम्राज्यवाद पर भारी प्रहार किया। आतंक और हिंसा से अफ्रीकी देशभक्तों को कुचलने की पुर्तगाल की सालाज़ार व केटानो की फ़ासिस्ट सरकारों के प्रयत्न पूरी तरह असफल हुए। गिनी-बिसाऊ, मोज़ाम्बिक और अंगोला के जनगणों के सशस्त्र संघर्ष ने उपनिवेशवादियों को सैन्य-क्षेत्र में ही पराजित नहीं किया, स्वयं पुर्तगाल में भी जनवादी आंदोलन को मज़बूत करने में बहुत प्रोत्साहन व सहायता पहुँचायी। और अप्रैल 1974 में फ़ासिस्ट तानाशाही के उच्छेदन को प्रोत्साहित किया। गिनी बिसाऊ, मोज़ाम्बिक और अंगोला के जनगणों के लम्बे सशस्त्र संघर्ष में सोवियत संघ ने उन्हें बड़ी मात्र

मे नैतिक व भौतिक सहायता दी।

अफ्रीका मे राष्ट्रीय मुक्ति की शक्तियो और उपनिवेशवाद के बीच ऐतिहासिक युद्ध ने महाद्वीप की सीमाओं का दूर तक अतिक्रमण किया। अफ्रीका मे उपनिवेशी शासनों को समाप्त करने का सघर्ष, समस्त विश्व की प्रगतिशील व शांतिकामी शक्तियों के साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष का आंशिक भाग हो गया है।

आगे प्रस्तुत आँकड़े, पूँजीवाद के आम-सकट की तीसरी अवस्था मे साम्राज्यवाद की उपनिवेशी व्यवस्था के बढ़ते पतन के सूचक हैं। युद्ध बाद के आरम्भिक दशक मे एशिया व अफ्रीका के 14 देशो ने स्वय को उपनिवेशी जुए से मुक्त किया, परवर्ती दशक मे अफ्रीका व एशिया के 50 से अधिक देशो ने उनका अनुसरण किया।

साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद के विरुद्ध सघर्ष की लपटें पश्चिमी गोलार्ध मे भी फैल गई हैं। वहाँ राष्ट्रीय मुक्ति सघर्ष के कुछ विशिष्ट लक्षण हैं। अधिकाश लातीनी अमरीकी देशो ने 19वीं शताब्दी के आरभ मे राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी, किंतु वे साम्राज्यवादी शक्तियो पर आर्थिक निर्भरता की स्थिति मे फँस गये। अब उनके जनगण अमरीकी तथा अन्य साम्राज्यवादी इजारेदारियो के विरुद्ध और असली राष्ट्रीय प्रभुसत्ता व आर्थिक आज़ादी प्राप्त करने के लिए निरतर सघर्ष कर रहे हैं। क्यूबा के बहादुर जनगण पश्चिमी गोलार्ध मे समाजवादी क्रांति करने वाले पहले जनगण थे और क्यूबा की क्रांति असली राष्ट्रीय स्वतन्त्रता व सामाजिक प्रगति के लिए संघर्ष मे सारे लातीनी अमरीकी जनगण के लिए एक उदाहरण बन गयी। सत्तर के दशक की विशेषता थी—लातीनी अमरीकी जनगण द्वारा अपनी स्वतन्त्रता, जनतन्त्र व सामाजिक प्रगति को दृढ़ करने के लिए बढ़ी हुई मात्रा मे सक्रिय सघर्ष। उरुग्वे की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के प्रथम सचिव रोडने एरिसमेंडी ने बताया है—"क्यूबा की क्रांति द्वारा शुरू किये गये दशक के परिणाम दिखाते हैं कि अमरीका मुक्ति संघर्षों को सर्पिल गति मे लगातार ऊपर चढ़ते मार्ग पर विकास करने से रोकने मे असफल रहा है।"[1]

चिली मे 1970 के राष्ट्रपति-चुनाव मे अनेक प्रगतिशील दलो के गठबधन के उम्मीदवार साल्वेदोर एलेंदे की विजय की लातीनी अमरीका मे व्यापक प्रतिक्रिया हुई। चिली की लोकप्रिय एकता की सरकार ने अपने तीन वर्ष के शासनकाल मे अर्थव्यवस्था के अनेक महत्वपूर्ण क्षेत्रो का राष्ट्रीयकरण किया और विदेशी इजारेदारियो, विशेष रूप से अमरीकन इजारेदारियों की दुर्नीतिविधियो पर रोक लगायी। विदेशी इजारेदारियो की खानें, बैंक व कारखाने सरकार द्वारा अधिकार मे ले

1. आर० एरिसमेण्डी, लेनिन, क्रांति और लातीनी अमरीका, मास्को, 1973, पृ० 324 (रूसी मे)।

राष्ट्रीय मुक्ति-आंदोलन समकालीन विश्व-क्रांतिकारी प्रक्रिया का आंशिक भाग बन गया है। नये सार्वभौम राज्यों के—जो उपनिवेशी साम्राज्यों के खंडहरों से उत्पन्न हुए हैं, जनगण साम्राज्यवाद की राजनैतिक, आर्थिक व सैनिक-सामरिक स्थितियों पर शक्तिशाली प्रहार कर रहे हैं। उपनिवेशी व्यवस्था का पतन गैर-आर्थिक शोषण, खुले बल प्रयोग और लूटमार (जो उपनिवेशी युग की विशेषताएं थी) के अंत को सूचित करता है। अंतर्राष्ट्रीय इजारेदार पूंजी अब और अधिक अपने भूतपूर्व उपनिवेशों की श्रमशक्ति व भौतिक साधनों का इच्छानुसार प्रयोग नहीं कर सकती है। उपनिवेशी दासता की व्यवस्था के पतन का परिणाम भूमंडलीय शक्तियों के सहसंबंध में भारी परिवर्तन हुआ है। वस्तुनिष्ठ रूप में, राजनैतिक रूप से स्वाधीन राज्य साम्राज्यवाद-विरोधी व क्रांतिकारी शक्तियों को मजबूत कर रहे हैं। नये सार्वभौम राज्यों का भारी बहुमत साम्राज्यवादी सैनिक-गुटों में शामिल नहीं है। वे तटस्थता की नीति का पालन करते हैं और एक नये विश्व-युद्ध को रोकने के समर्थक हैं। राजनैतिक स्वतंत्रता भूतपूर्व उपनिवेशों के जनगण के लिए आर्थिक आत्म-निर्भरता, उच्चतर जीवन-स्तर और अपनी संस्कृतियों के पुनरुत्थान व विकास के लिए राह खोलती है।

2. नव-उपनिवेशवाद

जब उपनिवेशों ने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली तो साम्राज्यवादी शक्तियों ने उन्हें आर्थिक व राजनैतिक बंधन में बनाये रखने के लिए नये तरीकों व रूपों का प्रयोग शुरू कर दिया। आधुनिक उपनिवेशवाद अर्थात् नव-उपनिवेशवाद विकासशील देशों में साम्राज्यवाद की स्थिति को बनाये रखने व मजबूत करने के लिए आर्थिक, राजनैतिक, विचारधारात्मक व अन्य उपायों की समग्र शृंखला है। उपनिवेशवाद मूलतः गैर आर्थिक दमन और लूटमार के तरीकों का प्रयोग करता था, नव-उपनिवेशवाद नयी ऐतिहासिक स्थितियों के अनुकूल अधिक सूक्ष्म तरीकों से अपने उद्देश्यों को पूरा करने की कोशिश कर रहा है। किन्तु इसका अर्थ अपने दुहरे उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रत्यक्ष दबाव (जिसमे विकासशील देशों के मामलों मे सशस्त्र हस्तक्षेप भी शामिल है) का त्याग नही है। नव-उपनिवेशवाद के ये दोहरे उद्देश्य हैं—एक, विकासशील देशो में अपनी स्थिति को सुरक्षित रखना व उसका विस्तार करना और इजारेदारी शोषण को तीव्र करना; दो, जिन देशों ने स्वयं को उपनिवेशी व्यवस्था से मुक्त कर लिया है, उन्हे विकास के गैर-पूंजीवादी रास्ते को ... रोकना और उन्हें विश्व-पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के भीतर बनाये

...वेशवाद का एक महत्वपूर्ण रूप है—विकासशील देशों को पूंजी ...यता के वेश में) का निर्यात। इस 'सहायता' का अधिकांश भाग

साम्राज्यवाद की आक्रामक योजनाओ, सामरिक जरूरतो और विश्व-समाजवादी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष मे विकासशील देशो को अग्रमोर्चा के रूप मे बदलने की कोशिशो से जुड़ा हुआ है। इसके साथ साम्राज्यवादी, राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने वाले देशों की अर्थव्यवस्था मे अपनी प्रभावशाली स्थिति बनाये रखने और इजारेदार के पक्ष मे उनका उपयोग करने की कोशिश भी कर रहे हैं। उपनिवेशी-व्यवस्था के पतन से पहले उपनिवेशो मे पूँजी का निर्यात मुख्य रूप से निजी निवेशों के द्वारा किया जाता था, अब पूँजीवाद के आम-संकट की दूसरी और विशेष रूप से तीसरी अवस्था मे राज्य द्वारा नियंत्रित पूँजीवाद का निर्यात तेज़ी से बढ रहा है। उदाहरण के लिए, विदेशो मे अमरीका के राजकीय निवेश 1950 मे 11.09 अरब डॉलर से बढ़कर 1978 में 54.2 अरब डॉलर अर्थात् पाँच गुना से अधिक हो गये हैं। राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद बहुत से विकासशील देशो ने विदेशी निवेशो का राष्ट्रीयकरण कर दिया। इसके परिणामस्वरूप दूसरे महायुद्ध के बाद आरंभिक दशको मे निजी इजारेदार पूँजी का प्रवाह सापेक्ष रूप से कम हो गया। भूतपूर्व उपनिवेशों को शोषण का क्षेत्र बनाये रखने के लिए पूँजीवादी राज्य इजारेदारो की सहायता के लिए आगे आ गया है।

राजकीय पूँजी के निर्यात के साथ विकासशील देशो को निजी इजारेदार पूँजी का निर्यात अब महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। विकासशील देशो को पूँजी का राजकीय निर्यात निजी निवेश के लिए रास्ता साफ करता है। साम्राज्यवादी देश नये राष्ट्रों को ऋण व अनुदान देते हैं और इसके बदले में विदेशी निजी निवेश के लिए 'अनुकूल वातावरण' बनाये रखने तथा अर्थव्यवस्था के किसी क्षेत्र के राष्ट्रीय-करण की स्थिति मे उनके हितो के लिए गारंटी आदि की माँग करते हैं। विकसित देशो की निजी पूँजी ने विकासशील देशो की अर्थव्यवस्था में मजबूत स्थान पा लिया है। 1960-67 मे अर्थव्यवस्थाओ मे स्पष्ट रूप से राजकीय पूँजी का प्रभुत्व था लेकिन तब के बाद स्थिति बदल गयी है। 1970 के दशक के अन्त मे विकासशील देशो मे अमरीका, ब्रिटेन, पश्चिमी जर्मनी, जापान और फ्रास का निजी निवेश एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमरीका मे उनके कुल निवेश का 84.2 प्रतिशत था।[1]

पूँजीवादी अर्थशास्त्री यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे है कि पूँजी का निर्यात विकासशील देशो मे आर्थिक व सांस्कृतिक प्रगति के लिए सहायक है। लेकिन वे इस तथ्य को छुपाते है कि विकासशील देशो मे निवेश से साम्राज्यवादी राज्यो का इजारेदार पूँजीपति वर्ग जो मुनाफा प्राप्त करता है वह उनके नये निवेश से काफ़ी

---

1 "विकासशील देशों में प्रत्यक्ष निजी विदेशी निवेश", वाशिंगटन, अगस्त 1979, पृ० 73-76 (अंग्रेजी में)।

रहाता है। अमरीका के अधिकृत आंकड़ों के अनुसार विकासशील देशों में अमरीक
के प्रत्यक्ष निजी निवेश की कुल राशि 1970-78 में 19.2 अरब डॉलर से बढ़
40.5 अरब डॉलर अर्थात् 2.7 गुना अधिक हो गयी जबकि इसी अवधि
अमरीका को वार्षिक रूप में भेजा गया अनुरूपी शुद्ध मुनाफ़ा 2.9 अरब डॉलर
छलांग लगाकर 8.9 अरब डॉलर अर्थात् 3.1 गुना अधिक हो गया। 1970-7
के बीच विकासशील देशों से अमरीका को शुद्ध मुनाफ़े के रूप में लगभग 45 अर
डॉलर की राशि भेजी गयी। यह तथ्य कि साम्राज्यवादी इजारेदारियाँ विकास
शील देशों की राष्ट्रीय आय का बड़ा हिस्सा बाहर ले जाती हैं, विकासशील देशों की
उत्पादन-शक्तियों के विकास में बाधा डालता है और घरेलू पूँजी के संचय को कम
करता है। निवेश द्वारा होने वाली आय का भुगतान, विकासशील देशों के भुगतान
सन्तुलन में घाटा रहने का मुख्य कारण है। विदेशी इजारेदार पूँजी, खासतौर से जब
वह विकासशील देशों में प्रत्यक्ष-निवेश के रूप में प्रवेश करती है, उनकी अर्थ
व्यवस्था के उपनिवेशी ढांचे को मजबूत करती है और सार्वजनिक-क्षेत्र की वृद्धि को
रोकने के साथ-साथ उद्योगों के विषम विकास को बढ़ाती है। देशी निजी अथवा
सार्वजनिक पूँजी के नियोजन के साथ मिश्रित कंपनियाँ बनाते समय विदेशी व
स्थानीय निवेश के बीच अनुपात के सवाल का फैसला विशिष्ट विकासशील देश की
सामाजिक नीति की लक्ष्य-दिशा के मानदंड और उसकी अर्थव्यवस्था की स्थिति
के अनुसार होता है। साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा किसी विशेष विकासशील देश
को दी गयी 'सहायता' विशिष्ट दशाओं के अनुसार विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति करती
है। यह आर्थिक गुलामी का साधन बन सकती है और इजारेदार पूँजी के निवेश
क्षेत्र व बाज़ारों के विस्तार का मार्ग भी बन सकती है। कुछ अन्य मामलों में
'सहायता' उपयोग नये क्षेत्रों के विकास के लिए किया जाता है ताकि बाद में उन्हें
विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में शामिल किया जा सके। अनेक उदाहरणों में जन-
विरोधी प्रतिक्रियावादी शक्तियों को सहायता देने या राष्ट्रीय मुक्ति-आंदोलनों के
विरुद्ध लड़ने के लिए साम्राज्यवादी देशों से राजकीय ऋण और अनुदान सहायता
दी जाती है। कुछ खास देशों में, जिन्हें 'सहायता' दी गई है, अमरीका ने सैनिक
अड्डे स्थापित कर लिये हैं और सेना तैनात कर दी है। अतः पूँजी का निर्यात चाहे
किसी भी रूप में किया जाये, अभी भी सचाई यह है कि यह उपनिवेशी-शोषण का
एक प्रमुख तरीक़ा और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों को दबाने का साधन है।

इन दिनों, श्रम के पूँजीवादी-विभाजन की व्यवस्था में शामिल होने के लिए
विकासशील देशों को प्रोत्साहित करते हुए अंतर्राष्ट्रीय इजारेदारियाँ नव-उपनिवेश-
व्यवस्था में प्रमुख भूमिका अदा कर रही हैं। अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी
[illegible] में औद्योगिक-विकास को नियंत्रित तथा उसका प्रयोग अपने हित
चाहती है। इससे विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाएं अधिकाधिक मात्रा

मे साम्राज्यवाद पर निर्भर हो जाती हैं। अंतर्राष्ट्रीय इजारेदारियाँ विकासशील देशों मे नव-निर्मित औद्योगिक-उद्यमों को, एक औद्योगिक-समूह भौगोलिक दृष्टि से अलग-अलग फैली संयोजन इकाई और अन्यत्र निर्मित होने वाले उत्पादों के अलग-अलग हिस्सों की आपूर्ति करने वाला समझती हैं। अतर्राष्ट्रीय इजारेदारियाँ (अथवा बहुराष्ट्रीय निगम) विकासशील देशों की स्थितियो के अनुरूप बन जाती हैं। यदि उन्होने खनिज-दोहन (मुख्य रूप से पैट्रोल-तेल) पर से प्रत्यक्ष-नियंत्रण खो दिया है तो उन्होने निर्माण-उद्योग में घुसपैठ कर ली है। विकासशील देशों मे औद्योगीकरण को प्रोत्साहन देने के मुखौटे के पीछे वे वास्तव मे औद्योगिक नव-उपनिवेशवाद का क्रियान्वयन ही कर रहे हैं।

विकासशील देशो व साम्राज्यवाद के बीच व्यापार पर भी नव-उपनिवेशवाद के दाग की छाप है। उनके बीच विनिमय का असतुलन न केवल कम ही नहीं हुआ है, बल्कि बढ गया है। विकासशील देशों द्वारा नियत्रित किये जाने वाले औद्योगिक व कृषिजन्य कच्चे माल की ऊँची कीमतें, पूंजीवादी देशो द्वारा भेजे जाने वाले औद्योगिक सामान की ऊँची कीमतों से पीछे रही हैं। सयुक्त राष्ट्र सघ के आँकडो के अनुसार कीमतो के स्तरो मे इस बढते अंतर के कारण 1960-70 के दशको के बीच विकासशील देशो को लगभग तीन अरब डॉलर की हानि हुई। यह हानि अब औद्योगिक रूप से विकसित पूंजीवादी देशों द्वारा उन्हे दी जाने वाली मुफ्त सहायता की राशि से अधिक हो गयी है।

कोई भी यह देख सकता है कि विकासशील देशो को सार्वजनिक व निजी पूंजी के बढ़ते निर्यात, अंतर्राष्ट्रीय इजारेदारियों के बढते क्रियाकलाप और विकासशील देशो के विदेश व्यापार में बढते असतुलन के साथ इन देशों से धन बाहर जा रहा है। यह धन मुनाफों व लाभांशों के हस्तान्तरण, ऋण व उधार के पुनर्भुगतान, इजारेदारी मूल्यो के प्रयोग के द्वारा औद्योगिक उत्पादों के कुछ भाग के पुनर्वितरण के रूप मे बाहर जा रहा है। युद्ध के बाद धन का यह बहिर्गमन विकासशील देशों मे वित्तीय ससाधनों के आगमन से अधिक हो गया है। औद्योगिक-रूप से विकसित देशों के नाम उनके कर्ज मे तीव्र वृद्धि इसका अप्रत्यक्ष सूचक है। व्यापार और विकास के लिए सयुक्त राष्ट्र संघ के सम्मेलन (अंकटाड-UNCTAD) के अनुसार 1979 के शुरू मे यह कर्ज 285 अरब डॉलर था।[1]

वैज्ञानिक व तकनीकी क्रांति के प्रभाव से, उपनिवेशी पराधीनता से स्वय को मुक्त करने वाले देशो को उच्च-स्तरीय योग्यता-संपन्न व्यक्तियों की अत्यावश्यक जरूरत होती है। लेकिन साम्राज्यवादी देश विकासशील देशों से उच्च-स्तरीय विशेषज्ञों को बाहर निकालने के लिए अनेक तरह के तरीक़ों का प्रयोग कर रहे

1. विश्व बैंक की वार्षिक रपट; वाशिंगटन 1979, पृ० 15।

हैं। ऐसा होने पर विकासशील देशों को दुहरा नुकसान—विशेषज्ञों का और उनके प्रशिक्षण पर खर्च किये गये धन का, होता है। यूनेस्को (शिक्षा, विज्ञान एवं संस्कृति के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ का संगठन) के अनुसार 1970 में विकासशील देशों ने अपने कर्मियों की शिक्षा व प्रशिक्षण पर लगभग 12 अरब डॉलर खर्च किये। इस कार्य के लिए अन्य देशों से उन्हें लगभग डेढ़ अरब डॉलर की सहायता मिली जबकि कुशल कर्मियों के बाहर चले जाने से उन्हें लगभग 8-10 अरब डॉलर का नुकसान हुआ।

युद्धोत्तर काल की एक विशेषता तथाकथित सामूहिक नव-उपनिवेशवाद (विकासशील देशों को गुलाम बनाये रखने के उद्देश्य से साम्राज्यवादी शक्तियों के संयुक्त-प्रयत्न की व्यवस्था) का प्रकट होना व उसका विकास है। सामूहिक उपनिवेशवाद का एक रूप विकासशील देशों को एकांतिक आर्थिक गुटों, (जैसे यूरोपीय आर्थिक समुदाय, जिसमें फ्रांस व बेल्जियम के भूतपूर्व उपनिवेश सहायक सदस्य के रूप में शामिल हैं) में शामिल करना है। इन संगठनों के द्वारा अंतर्राष्ट्रीय निगम अपनी पुरानी उपनिवेशी सुविधाओं को बनाये रखने का प्रयत्न ही नहीं करते हैं बल्कि नयी विशेष सुविधाएँ पाने की कोशिश भी करते हैं। ताकि वे अफ्रीका के भूतपूर्व उपनिवेश व अर्ध-उपनिवेशी देशों के संसाधनों के संयुक्त शोषण का प्रबंध कर सकें। अफ्रीकी बाजारों में पश्चिमी यूरोप की इजारेदारियों द्वारा निर्मित वस्तुओं का व्यापक प्रवेश देशीय उद्योग को नकारात्मक रूप से प्रभावित करता है। अल्प-उपकरणों से लैस छोटे उद्यमों द्वारा निर्मित स्थानीय उत्पाद न तो क़ीमत में और न गुणवत्ता में ही बड़ी यूरोपीय कंपनियों के उत्पादों से होड़ कर पाते हैं। इसके साथ अफ्रीका के विकासशील देशों की एक विशेषता, मूल्यवान औद्योगिक या कृषिजन्य कच्चा माल उत्पादन करनेवाले उन एक या दो क्षेत्रों का तीव्र विकास है, जिनके विकास में आर्थिक-रूप से विकसित पश्चिमी देशों के उद्योगों की सक्रिय दिलचस्पी है। इसके परिणामस्वरूप अफ्रीकी देशों की अर्थव्यवस्थाएँ एक ओर अभी तक अपनी अनिवार्य 'एक फ़सली' विशेषता को बचाये हुए हैं, दूसरी ओर वे औद्योगिकीकरण में मंद गति का सामना करती हैं क्योंकि शिशु देशी उद्योग पश्चिमी यूरोप की इजारेदारियों के विरुद्ध प्रतियोगिता नहीं कर पाते हैं। अफ्रीकी देश यूरोपीय आर्थिक समुदाय से मिलने वाले ऋण का निवेश मुख्य रूप से आधार-भूत ढाँचे के विकास और परंपरागत सामान के निर्यात की वृद्धि में करते हैं, बहु-क्षेत्रीय स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था का निर्माण करने वाली परियोजनाओं में नहीं करते।

ऋण देने और वित्तीय निवेश करने वाले संगठन जैसे—पुनर्निर्माण व विकास के लिए अंतर्राष्ट्रीय बैंक (आई० बी० आर० डी०), अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (आई० एम० एफ) तथा अन्य संगठन, सामूहिक उपनिवेशवाद के महत्वपूर्ण अभिकरण हैं। वे मुख्य रूप से निजी इजारेदारियों द्वारा विकासशील देशों को निर्यात की

गयी पूंजी की सुरक्षा की गारंटी देते हैं। ये अंतर्राष्ट्रीय संगठन प्रायः उन देशों को ऋण देते हैं जो साम्राज्यवाद को आर्थिक-राजनैतिक छूट देते हैं और जो साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद के विरोधी हैं उन्हें ऋण देना ये नापसंद करते हैं।

राष्ट्रीय उद्योग के निर्माण के लिए विशाल संसाधनों की जरूरत होती है। विकासशील देशों में नयी परियोजनाओं के लिए वित्त-प्रबंध मुख्य रूप से राज्य करता है और इससे बजट संबंधी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। जब विकासशील देश अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (इजारेदार पूंजी के हितों की रक्षा करने वाला संगठन) से सहायता माँगते हैं तो कोष सदैव जल्दी से सहमत नहीं होता। विकासशील देशों में मुद्रा-प्रसार को 'सामान्य' करने के लिए कोष अक्सर आर्थिक-विकास की दरों व सार्वजनिक खर्च को कम करने की माँग करता है। कोष का नेतृत्व अपने सदस्य देशों में औद्योगिकीकरण को हानि पहुँचाते हुए भी वित्तीय स्थिरता को प्राथमिकता देने की माँग करता है यद्यपि आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करने के लिए औद्योगिकीकरण को सर्वोत्तम उपाय माना जाता है। आई० बी० आर० डी० भी इन्हीं नीतियों के अनुसार काम करता है।

सैनिक तानाशाही और कठपुतली शासनों की स्थापना एक ऐसा तरीका है, विकासशील देशों में अपनी सर्वोच्चता बनाये रखने के लिए साम्राज्यवादी देश जिसका व्यापक प्रयोग करते हैं। जब जन-समूह भ्रष्ट शासकों के विरुद्ध विद्रोह करते हैं तो साम्राज्यवादी 'स्वतन्त्रता व प्रजातंत्र' के बहाने से मुक्ति-आंदोलनों को बल-प्रयोग से दबाने के लिए हस्तक्षेप करते हैं। अफ्रीका और लातीनी अमरीका के राज्य इस तरह के हस्तक्षेप के हमेशा शिकार रहे हैं। तथ्यों से पूरी तरह प्रकट है कि साम्राज्यवाद ने अपने लुटेरेपन के सारतत्व को अभी नहीं छोड़ा है। विकासशील देशों के विरुद्ध प्रत्यक्ष राजनैतिक-आर्थिक व सैनिक दबाव के प्रयोग को छोड़े बिना आधुनिक उपनिवेशवादी विचारधारात्मक भीतरघात के तरीकों का भी प्रयोग करते हैं। इन विशेष विचारधारात्मक धारणाओं में से एक 'वर्ग-शांति' और 'भागीदारी' की धारणा प्रमुख है। आधुनिक पूंजीवादी अर्थशास्त्री यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं कि वर्ग-सहयोग विकासशील देशों में आर्थिक-विकास को तीव्र करेगा। उदाहरण के लिए, अमेरिकन प्रो० जान पी० पावेल्सन के अनुसार विकासशील देशों के अभी तक पिछड़े बने रहने का मुख्य कारण उत्पादन में शामिल लोगों के बीच परस्पर विश्वास की कमी है। पावेल्सन बल देकर कहते हैं—"अल्प विकसित देशों का ऐसे स्पष्ट रूप से परिभाषित समूहों में विभाजन, (जैसे, सेना राजनीतिज्ञ, जमींदार, व्यापारी, मजदूर, किसान, जनजाति, छात्र आदि) जो न केवल एक-दूसरे से संपर्क ही नहीं रखते हैं बल्कि सक्रिय रूप से एक-दूसरे के प्रति नापसंदगी व अविश्वास के भाव रखते हैं तथा नुकसान पहुँचाने की

गयी पूँजी की सुरक्षा की गारंटी देते हैं। ये अंतर्राष्ट्रीय संगठन प्रायः उन देशों को ऋण देते हैं जो साम्राज्यवाद को आर्थिक-राजनैतिक छूट देते हैं और जो साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद के विरोधी हैं उन्हें ऋण देना ये नापसंद करते हैं।

राष्ट्रीय उद्योग के निर्माण के लिए विशाल समाधनों की जरूरत होती है। *विकासशील देशों में नयी परियोजनाओं के लिए वित्त-प्रबंध मुख्य रूप से राज्य* करता है और इससे बजट संबंधी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। जब विकासशील देश अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (इजारेदार पूँजी के हितों की रक्षा करने वाला संगठन) से सहायता माँगते हैं तो कोष सदैव जल्दी से सहमत नहीं होता। विकासशील देशों में मुद्रा-प्रसार को 'सामान्य' करने के लिए कोष अक्सर आर्थिक-विकास की दरों व सार्वजनिक खर्च को कम करने की माँग करता है। कोष का नेतृत्व अपने सदस्य देशों से औद्योगिकीकरण को हानि पहुँचाते हुए भी वित्तीय स्थिरता को प्राथमिकता देने की माँग करता है यद्यपि आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करने के लिए औद्योगिकीकरण को सर्वोत्तम उपाय माना जाता है। आई० बी० आर० डी० भी इन्हीं नीतियों के अनुसार काम करता है।

सैनिक तानाशाही और कठपुतली शासनों की स्थापना एक ऐसा तरीका है, विकासशील देशों में अपनी सर्वोच्चता बनाये रखने के लिए साम्राज्यवादी देश *जिसका व्यापक प्रयोग करते हैं। जब जन-समूह भ्रष्ट शासकों के विरुद्ध विद्रोह करते हैं तो साम्राज्यवादी 'स्वतंत्रता व प्रजातंत्र' के बहाने से* मुक्ति-आंदोलनों को बल-प्रयोग से दबाने के लिए हस्तक्षेप करते हैं। अफ्रीका और लातीनी अमरीका के राज्य इस तरह के हस्तक्षेप के हमेशा शिकार रहे हैं। तथ्यों से पूरी तरह प्रकट है कि साम्राज्यवाद ने अपने लुटेरेपन के सारतत्त्व को अभी नहीं छोड़ा है। विकासशील देशों के विरुद्ध प्रत्यक्ष राजनैतिक-आर्थिक व सैनिक दबाव के प्रयोग को छोड़े बिना आधुनिक उपनिवेशवादी विचारधारात्मक भीतरघात के तरीकों का भी प्रयोग करते हैं। इन विशेष विचारधारात्मक धारणाओं में से एक 'वर्ग-शांति' और 'भागीदारी' की धारणा प्रमुख है। आधुनिक पूँजीवादी अर्थशास्त्री यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं कि वर्ग-सहयोग विकासशील देशों में आर्थिक-विकास को तीव्र करेगा। उदाहरण के लिए, अमेरिकन प्रो० जान पी० पावेल्सन के अनुसार विकासशील देशों के अभी तक पिछड़े बने रहने का मुख्य कारण उत्पादन में शामिल लोगों के बीच परस्पर विश्वास की कमी है। पावेल्सन बल देकर कहते हैं—"अल्प विकसित देशों का ऐसे स्पष्ट रूप से परिभाषित समूहों में विभाजन, (जैसे, सेना राजनीतिज्ञ, जमींदार, व्यापारी, मजदूर, किसान, जनजाति, छात्र आदि) जो न केवल एक-दूसरे से संपर्क ही नहीं रखते हैं बल्कि सक्रिय रूप से एक-दूसरे के प्रति *नापसंदगी व अविश्वास के भाव रखते हैं* [illegible] बाने की

कोशिश करते हैं, उत्पादन के उपकरणों के तर्कसंगत विभाजन को रोकना है।"[1]

विकासशील देशों की सामाजिक-संरचना के पावेल्सन के विभाजन को हमें उसकी बुद्धि के लिए छोड़ देना चाहिए। अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह वर्ग-विरोधों के स्रोतों का उद्घाटन नहीं करता है बल्कि विकासशील देशों की आर्थिक प्रगति की अनिवार्य शर्त के रूप में वर्ग-सहयोग की अपील करता है। राष्ट्रीय एकता और राजनैतिक स्थिरता निश्चय ही सामाजिक-आर्थिक विकास की सफलता के लिए सब कहीं महत्त्वपूर्ण शर्त हैं लेकिन नव-उपनिवेशवाद के समर्थक विकासशील व साम्राज्यवादी देशों के बीच मौजूद अंतर्विरोधों को छुपाने की कोशिश करते हैं जबकि साम्राज्यवाद विकासशील देशों में अपनी स्थिति को मजबूत बनाने और उन्हें विकास का ग़ैर-पूँजीवादी रास्ता ग्रहण करने से रोकने में लगा हुआ है।

पूँजीवादी अर्थशास्त्री भागीदारी के सिद्धान्त पर भी बहुत बल देते हैं यद्यपि इसके सारतत्त्व और, ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि, इसके तरीक़ों में हाल में महत्त्वपूर्ण बदलाव आये हैं। उपनिवेशी व्यवस्था के पतन के बाद के आरंभिक वर्षों में पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों ने यह दावा किया कि विकासशील देश अपने पूर्ववर्ती स्वामी राज्यों के साथ भागीदार बन गये हैं क्योंकि उन्होंने उनके (साम्राज्यवादी देशों के) साथ अपने परंपरागत संबंधों को बनाये रखा है। ब्रिटिश राष्ट्र-कुल संघ, फ्रांसीसी-अफ्रीकन समुदाय तथा अन्य राजनैतिक संगठन, जिनमें सदस्यों की स्थिति असमान स्तर की है, विधिवत बनाये गये और उनका विस्तार किया गया। अमरीका ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि अपनी ऐतिहासिक नियति के कारण वह विकासशील देशों का भागीदार है क्योंकि वह भी पहले यूरोपीय उपनिवेश था। चूँकि यह भागीदारी व्यवहार में साम्राज्यवादी शक्तियों पर विकासशील देशों की निर्भरता को बनाये रखने में ही सहायक थी, अतः इसका आकर्षण तेज़ी से कम हो गया। इसी कारण नव-उपनिवेशवाद के समर्थकों को भागीदारी के सिद्धान्त का आधुनिकीकरण और इसके तरीक़ों का नवीकरण करना पड़ा।

औद्योगीकरण, कृषि-सुधार, सार्वजनिक-क्षेत्र का निर्माण, आर्थिक नियोजन और श्रम के पुराने अंतर्राष्ट्रीय विभाजन का विनाश—जो सब विकासशील देशों में विश्व-समाजवादी व्यवस्था के अनुभवों से जुड़े हुए हैं, साम्राज्यवादी शक्तियाँ उनके खुले विरोध का खतरा उठाना प्रायः नापसंद करती हैं। विकासशील देशों में आर्थिक कार्यों के लिए तत्काल सहायता देने के झंडे को फहराते हुए साम्राज्यवादी शक्तियाँ उन्हें पूँजीवादी विकास के उस रास्ते पर धकेल रही हैं जिसमें उनकी अर्थ-

1. जान॰ पी॰ पावेल्सन, 'आर्थिक विकास की अवस्थाएँ : विकासशील देशों में सबकी प्रबंध-व्यवस्था का सिद्धांत', प्रिंसटन, एन॰ जे॰, 1972, पृ॰ 33 (अंग्रेजी में)।

व्यवस्थाएँ विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से एकीकृत हो जाएँगी। इससे विकासशील देश साम्राज्यवादी देशों पर आर्थिक दृष्टि से और अधिक निर्भर हो जायेंगे।

3. विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं के विशिष्ट लक्षण

यह तथ्य, कि एशिया, अफ्रीका व लातीनी अमरीका के बहुसंख्यक देशों ने राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है, अभी इसका सूचक नहीं है कि विकसित साम्राज्यवादी देशों पर उनकी आर्थिक निर्भरता के लंबे वर्षों का अंत हो गया है। उपनिवेशवाद की राजनैतिक प्रभुता के विघटन ने भूतपूर्व उपनिवेशों व अर्ध-उपनिवेशी देशों में सिर्फ शोषण के ग़ैर-आर्थिक रूपों को नष्ट करने में सहायता दी। राजनैतिक स्वतंत्रता के बाद यदि आर्थिक मुक्ति नहीं आती है या उपनिवेशी आर्थिक ढांचा सुरक्षित छोड़ दिया जाता है तो राजनैतिक स्वतंत्रता अधूरी होती है और काल्पनिक हो जाने की हद तक अपना अर्थ खो देती है।

राजनैतिक स्वतंत्रता बहुत महत्त्वपूर्ण है हालांकि यह साम्राज्यवाद की बेड़ियों से भूतपूर्व उपनिवेशी व अर्ध-उपनिवेशी देशों की मुक्ति की ओर पहला क़दम ही है। इसका महत्त्व यह है कि वे विदेशी आधिपत्य से पूर्ण मुक्ति के लिए संघर्ष कर सकते हैं। वर्तमान में उनके राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के मुख्य मुद्दे आर्थिक स्वतंत्रता, विदेशी पूँजी के आधिपत्य व साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा उन पर लादे गये लूट-मारपूर्ण संबंधों की व्यवस्था की समाप्ति और आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्थाओं की स्थापना है।

विकासशील देशों की सामाजिक-आर्थिक विशेषताएँ क्या हैं? उनके उत्पादन-संबंध नानारूपी, जटिल और अंतर्विरोधी हैं। वास्तव में उनमें आर्थिक संबंधों की पूरी शृंखला—आदिम जातीय से लेकर आधुनिक पूँजीवादी तक—शामिल है। उनमें बहुत भिन्न प्रकार की आर्थिक संरचनाएँ एक-दूसरे से गुँथी हुई हैं। राजनीतिक स्वतंत्रता पाने के बाद पहले वर्षों में कुछ विकासशील देशों ने विशेष रूप से अफ्रीका के देशों ने, अपने मजबूत जनजातीय व सामुदायिक संबंधों को बनाये रखा। इनमें से कुछ देशों में सामुदायिक स्वामित्व व प्राकृतिक अर्थव्यवस्था पर आधारित यह व्यवस्था धीरे-धीरे छोटे स्तर के वस्तु-उत्पादन में विकसित हुई जबकि कुछ अन्य देशों में सामंती अथवा अर्ध-सामंती व्यवस्था में विकसित हुई। इन व्यवस्थाओं में परिवर्तन पर विदेशी व स्थानीय पूँजी का बड़ा भारी प्रभाव था। इन संरचनाओं के अलावा अधिकांश विकासशील देशों में सार्वजनिक क्षेत्र का भी विशेष स्थान है। विभिन्न अर्थ-संरचनाओं के बीच संबंध, प्रत्येक देश-विशेष में ऐतिहासिक रूप से निश्चित परिस्थितियों, उत्पादक-शक्तियों के विकास, सामंती संबंधों के अवशेष, विदेशी पूँजी के आधिपत्य की सीमा आदि पर निर्भर हैं।

विकासशील देशों में अर्थव्यवस्था की विशेषता एक-फ़सली विकास है। इसमें संपूर्ण राष्ट्रीय-उत्पाद और निर्यात में एक या दो उत्पादन-सामग्री की पूरी प्रधानता होती है। उनकी उद्योग-व्यवस्था अल्पविकसित है। 1980 के आरंभ में उनकी आबादी पूँजीवादी विश्व की आबादी के आधे भाग से ज़्यादा थी लेकिन उनका औद्योगिक उत्पादन संपूर्ण पूँजीवादी उत्पादन के दसवें भाग से भी कम था। विकासशील देशों में भारी उद्योगों में प्रतिव्यक्ति उत्पादन विकसित पूँजीवादी देशों के उत्पादन का तीसवाँ भाग है। विकासशील देशों की एक विशेषता मूलतः पिछड़ी कृषि-व्यवस्था है जिसमें आदिम औज़ारों का प्रयोग होता है। इन देशों में लाभप्रद रूप से काम करने वालों का 50 से 90 प्रतिशत भाग कृषि के काम में लगा हुआ है।

आर्थिक-विकास का निम्न स्तर और बहुसंरचनात्मक अर्थव्यवस्था जटिल सामाजिक बनावटों को निश्चित करती है। इन देशों में ऐसे वर्ग और सामाजिक-सस्तर अब भी बचे हैं जो विकसित पूँजीवादी देशों में काफ़ी पहले समाप्त हो गये थे। इन देशों के पूँजीपति व सर्वहारा पश्चिमी यूरोप एवं अमरीका के पूँजीपति व सर्वहारा से कुछ भिन्न हैं।

एक-फसली अर्थव्यवस्था, अल्प आर्थिक-विकास, आदिम कृषि, अत्यंत कम श्रम-उत्पादकता और स्थानीय सुयोग्य कर्मियों की कमी का परिणाम प्रति-व्यक्ति अल्प-आय हुआ है। संयुक्त राष्ट्र संघ के आँकड़ों के अनुसार 1980 के दशक के आरंभ में विकासशील देशों में प्रतिव्यक्ति आय औद्योगिक रूप से विकसित पूँजीवादी राज्यों से 14 गुना कम थी, जबकि विकसित देशों में यह संख्या 6000-7000 डॉलर है, पैट्रोलियम निर्यात नहीं करने वाले विकासशील देशों में यह 350-450 डॉलर है और 29 सबसे कम विकसित देशों में सिर्फ़ 150 डॉलर है।[1] परिणामस्वरूप विकासशील देशों में जीवन-स्तर अत्यंत नीचे हैं। जनसंख्या पोषाहार की व्यवस्थित कमी से पीड़ित है। इन देशों में बहुत कम स्कूल व अस्पताल हैं और डॉक्टर व शिक्षक पर्याप्त संख्या में नहीं हैं। निरक्षरता की दर भी इन देशों में बहुत ऊँची है।

परम्परागत आर्थिक पिछड़ेपन तथा मेहनतकशों की ग़रीबी व भूख को समाप्त करने के लिए विकासशील देशों को बहुत व्यापक सामाजिक-आर्थिक सुधार करने होंगे। और ऐसा करने के लिए उन्हें विदेशी पूँजी की सर्वोच्चता की समाप्ति, अपने देशों का औद्योगिकीकरण, मूलगामी भूमि-सुधारों पर अमल, अर्थव्यवस्था के सरकारी क्षेत्र को मज़बूत करना तथा समाजवादी देशों से परस्पर-लाभदायक

1 'अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और विकास के आँकड़ों की पुस्तिका', परिशिष्ट 1919, पृ० 23 (अंग्रेजी में)।

संबंधों का विस्तार करना होगा। इन प्रमुख क़दमों को उठाना इस पर निर्भर है कि विकासशील देश कौन-सा रास्ता ग्रहण करते हैं।

नव-स्वतंत्र देशों के लिए विकास के दो रास्ते—राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की वर्तमान अवस्था में विकासशील देश विकास के दो रास्तों—पूंजीवादी और गैर-पूंजीवादी—में से कोई एक चुन सकते हैं। कुछ विकासशील देशों में वर्ग-शक्तियों के सह-संबंध और स्थापित आर्थिक-सामाजिक संरचना के कारण पूंजीवादी विकल्प निश्चित हो गया है। वहाँ राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष को अवरुद्ध करने और पूंजीवादी विकास के माध्यम से आर्थिक प्रगति को पाने की कोशिश कर रहा है। लेकिन इसका अनिवार्य परिणाम पूंजीवाद में अंतर्निहित सामाजिक अंतर्विरोधों में वृद्धि, जैसे अव्यवस्थित आर्थिक विकास, राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के हाथों में संपदा का अधिक-से-अधिक केंद्रीकरण और शोषक-वर्ग व मेहनतकशों के जीवन-स्तरों के बीच बढ़ता हुआ होता है।

इतिहास बताता है कि जिन देशों ने पूंजीवादी रास्ता पसंद किया, वे अपने सामने प्रस्तुत एक समस्या का समाधान करने में भी असफल रहे। वे श्रम के अंतर्राष्ट्रीय पूंजीवादी विभाजन के अंतर्गत साम्राज्यवादी देशों को कच्चा-माल व कृषि-जन्य पदार्थों के असमान व अधीनस्थ आपूर्ति करने वाले बने रहते हैं। पूंजीवाद के अंतर्गत विकासशील देश शोषण की समाप्ति, आर्थिक-स्वतंत्रता की प्राप्ति व अन्य कार्य नहीं कर सकते।

राजनैतिक स्वतंत्रता बहुत महत्त्वपूर्ण है किंतु राष्ट्रीय मुक्ति क्रांति के विकास में सिर्फ आरंभिक कदम है। राजनैतिक स्वतंत्रता के बाद अनेक अनिवार्य जनवादी सुधार आवश्यक हैं, जैसे—उपनिवेशी आर्थिक ढाँचे का विनाश; विदेशी इजारेदार पूंजी के आधिपत्य का अंत; साम्राज्यवादी राजनीतिक नियंत्रण के विविध छुपे रूपों की समाप्ति; स्थानीय शोषक वर्ग व सामाजिक स्तरों, जो अब भी साम्राज्यवादी प्रभुत्व के लिए सामाजिक आधार-भूमि बनाते हैं (जैसे सामंती जमींदार, साम्राज्यवादपरस्त नौकरशाही नेतृत्व आदि), की आर्थिक स्थितियों का नाश; सामाजिक व राजनैतिक जीवन का जनवादीकरण और राज्य-शक्ति के निकायों पर मेहनतकशों के नियंत्रण की स्थापना। इन कार्यों के आधार पर ही तीव्र आर्थिक विकास और प्रगतिशील आर्थिक उपायों (जिनका वर्णन मैं आगे करूंगा) की प्राप्ति संभव है।

सुसंगत रूप से विकसित होती राष्ट्रीय मुक्ति क्रांति का परिणाम होता है—गैर-पूंजीवादी रास्ते पर प्रगति। यह प्रगति आवश्यक भौतिक व तकनीकी आधारों के निर्माण तथा समाज की वर्गीय व सामाजिक पुनर्संरचना के बाद समाजवाद की ओर परवर्ती-संक्रमण के लिए परिस्थितियों की रचना करती है।

जब साम्राज्यवाद का सारे विश्व पर पूरी तरह आधिपत्य था, तब एशिया,

अफ्रीका व लातीनी अमरीका के उपनिवेशी एवं अर्ध-उपनिवेशी देशों में ग़ैर-पूँजीवादी-विकास असंभव था। रूस में महान् समाजवादी अक्तूबर-क्रांति की विजय, विश्व समाजवादी व्यवस्था के उदय और आधुनिक विश्व में इसकी बढ़ती भूमिका ने विकासशील देशों के लिए विकास के ग़ैर-पूँजीवादी रास्ते के द्वार पूरी तरह खोल दिये हैं।

वैज्ञानिक समाजवाद के संस्थापक मार्क्स और एंगेल्स ने यह सिद्ध किया था कि मानवता विकास की निश्चित अवस्थाओं से, जिनको उन्होंने सामाजिक-आर्थिक संरचना कहा, गुज़रती है। मार्क्स और एंगेल्स ने जो कुछ प्रतिपादित किया, नयी ऐतिहासिक स्थितियों के अनुकूल उसका विकास करते हुए लेनिन ने साम्राज्यवाद के युग में समाजवादी क्रांति के सिद्धांत को, जिसमें आर्थिक रूप से पिछड़े देशों में समाजवाद की विजय का व्यावहारिक कार्यक्रम भी शामिल है, प्रस्तुत किया। समाजवादी अक्तूबर-क्रांति तथा अपने उपनिवेश व साम्राज्यवाद विरोधी संघर्षों के प्रभाव से पूरब के जनगणों की चेतना में जो उभार आया उसने आर्थिक रूप से पिछड़े देशों, *जिनमें पूँजीवाद का विकास नहीं हुआ था और परिपक्व सर्वहारा वर्ग* का अभाव था, में सामाजिक मुक्ति के विशिष्ट रास्तों के निर्धारण की आवश्यकता उत्पन्न की। दूसरे शब्दों में यह सवाल उठा कि ये राष्ट्र पूँजीवाद को छोड़ते हुए समाजवाद की ओर बढ़ सकते हैं या नहीं।

लेनिन इस सवाल का जवाब देने वाले पहले मार्क्सवादी थे। उन्होंने कहा—"क्या हमें इस दावे को सही मानना चाहिए कि पिछड़े देशों (जो अब मुक्ति की राह पर है तथा जिनमें युद्ध के बाद प्रगति की ओर कुछ बढ़ाव दिखाई देता है) के लिए आर्थिक विकास की पूँजीवादी अवस्था को पाना अनिवार्य है? हमने इसका उत्तर 'नहीं' में दिया।

"....विकसित देशों के सर्वहारा की सहायता से पिछड़े देश पूँजीवादी अवस्था से गुज़रे बिना ही सोवियत-व्यवस्था तक और विकास की कुछ विशेष अवस्थाओं को पार करके साम्यवाद तक पहुँच सकते हैं।"[1]

लेनिन के इस प्रमाणीकरण ने कि विकास की ग़ैर-पूँजीवादी अवस्था संभव है, आर्थिक रूप से पिछड़े देशों के जनगणों के सामने, पूँजीवाद का अनुभव किये बिना ही एक नयी शोषण-मुक्ति समाजवादी व्यवस्था की ओर बढ़ने का परिप्रेक्ष्य खोल दिया। उन्होंने इन दावों की असमगति दिखाई कि जिन देशों ने पूँजीवाद द्वारा प्रदत्त पर्याप्त भौतिक-उत्पादन व समाजवाद के लिए आवश्यक अन्य स्थितियों को पाये बिना ही उपनिवेशवाद का जुआ दूर कर दिया है, उन्हें पूँजीवाद की अवस्था से

---

1. वी० आई० लेनिन 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस, 19 जुलाई से 7 अगस्त, रचनाएं, भाग 31, पृ० 244।

निवार्य रूप से गुजरना पड़ेगा।

विकास के गैर-पूँजीवादी रास्ते का लेनिन का सिद्धांत, रूस के भूतपूर्व पिछड़े नगणों के अनुभव पर आधारित था। बुखारा, अजरबैजान और आर्मेनिया के ोवियत गणराज्यों की स्थापना व दृढ़ीकरण की ओर संकेत करते हुए लेनिन ने ताया—"ये गणराज्य इस तथ्य को प्रमाणित व उसकी पुष्टि करते हैं कि सोवियत रकार के विचार तथा सिद्धांत *औद्योगिक रूप से विकसित देशों में ही नहीं, उन शों में ही नहीं जहाँ सर्वहारा-वर्ग जैसा सामाजिक आधार मौजूद है, बल्कि उन* ःशों में भी समझे जाते हैं और तत्काल व्यवहार्य हैं जिनका आधार किसान वर्ग ।"[1] विशिष्ट परिस्थितियों के होने पर एक समय पिछड़े जनगणों द्वारा गैर-ूँजीवादी रास्ते पर विकास करने की संभावना मंगोलियाई लोक गणराज्य के नुभव से भी प्रमाणित होती है, जिसने सोवियत-संघ की सहायता से पूँजीवाद को छोड़कर समाजवाद का सफलतापूर्वक निर्माण किया है।

पिछड़े देशों में विकास के गैर-पूँजीवादी रास्ते के संबंध में लेनिन ने जो कुछ कहा था, जिन देशों में स्थानीय पूँजीवाद अभी महत्त्वपूर्ण शक्ति नहीं बना है, उन देशों के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की वर्तमान अवस्था में वह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। *इन देशों में समाजवाद के निर्माण के लिए भौतिक, तकनीकी, सामाजिक* आधारों का अभी भी अभाव है। इन देशों में प्रगतिशील शक्तियाँ राज्य-तंत्र पर विश्वास करते हुए तथा जनगणों के समर्थन से ऐसे मूलगामी सुधार कर रही हैं जो समाजवाद में संक्रमण के लिए परिस्थितियों का निर्माण करेंगे।

जिन देशों ने दूसरे महायुद्ध के बाद स्वयं को साम्राज्यवादी गुलामी से मुक्त किया, अनुकूल बाहरी व भीतरी कारकों का सम्मिलन उन देशों में विकास को गैर-पूँजीवादी रास्ते की संभावनाओं को अधिक वास्तविक बनाता है। विश्व-समाजवादी व्यवस्था का निर्माण तथा इसकी शक्ति व प्रभाव में वृद्धि, साम्राज्यवाद की उपनिवेशी व्यवस्था का पतन, समग्र रूप से साम्राज्यवाद का अधिक निर्बल हो जाना और भिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं वाले देशों के बीच सह-अस्तित्व की नीति की सफलता बाहरी कारकों में हैं। समाजवादी देशों से सब क्षेत्रों में सहायता विकासशील देशों को पूँजीवादी आर्थिक-व्यवस्था की पकड़ को तोड़ने या कम-से-कम उस पर निर्भरता को गंभीरता से कमजोर करने का अवसर देती है। विकासशील देशों को राष्ट्रीय-कर्मियों के प्रशिक्षण, शिक्षा को प्रोत्साहन और अपनी संस्कृति को पुनर्जीवित करने के लिए समाजवादी देशों से जो सहायता मिलती है, वह साम्राज्यवादियों को इन देशों पर दबाव डालने के साधनों से वंचित करती

1. वी० आई० लेनिन, *सोवियतों की आठवीं अखिल रूसी कांग्रेस*, दिसम्बर 22-29, 1920 ई०, संकलित रचनाएँ, भाग 31, पृ० 490 (अंग्रेजी में)।

है। राष्ट्रीय-जनवादी राज्य वह साधन है, जिसके माध्यम से मुक्त हुए देश
पूंजीवादी रास्ते पर विकास करते हैं। जहाँ तक इसके वर्गीय सारतत्त्व का
है, राष्ट्रीय जनवादी राज्य क्रांतिकारी, साम्राज्यवाद-विरोधी, सामंत-विरोधी
पूंजीवाद-विरोधी शक्तियों के सम्मिलन के हितों को अभिव्यक्त करता है।
बहुमत की जनवादी तानाशाही या क्रांतिकारी जनगण की तानाशाही है।
प्रकार की राजनैतिक-व्यवस्था वाले देशों ने पूंजीवाद को अस्वीकार कर दिया
और ऐसा रास्ता स्वीकार किया है जिसका परिप्रेक्ष्य समाजवादी समाज है।

नये देशों के ग़ैर-पूंजीवादी रास्ते पर विकास के लिए वस्तुनिष्ठ संभावना
के मौजूद होने का अर्थ यह नहीं है कि ऐसा अपने आप हो जायेगा। चूंकि इन दे
में मज़दूर-वर्ग अभी बहुत कमज़ोर है और काफ़ी प्रभावशाली नहीं है।
आगामी विकास बहुत कुछ इस पर निर्भर है कि कौन-सी सामाजिक-शक्तियाँ—
साम्राज्यवाद-समर्थक या क्रांतिकारी जनवादी, देश का नेतृत्व करती है तथा कि
पर—साम्राज्यवादी शक्तियों पर या विश्व समाजवादी व्यवस्था पर, ये शक्ति
विश्वास करती है। ग़ैर-पूंजीवादी विकास के लिए आवश्यक शर्त यह है कि सारे
जनवादी प्रगतिशील शक्तियाँ संयुक्त हो जाएँ और जनगण आंतरिक प्रतिक्रिया
साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय प्रगतिशील मोर्चा बनाएँ तथा उसे मज़बूत करें
राष्ट्रीय मुक्ति-आंदोलन की साम्राज्यवाद-विरोधी दिशा और व्यापक
पैने सामाजिक-आर्थिक पिछड़ेपन को समाप्त करने की इच्छा ही अनेक सामाजिक
शक्तियों के संयुक्त-राष्ट्रीय मोर्चा के निर्माण के लिए वस्तुनिष्ठ परिस्थितियों की
रचना करती है।

हमें उन विकासशील देशों, जिन्होंने ग़ैर-पूंजीवादी विकास का मार्ग चुन लिया
है, में किये गये मुख्य आर्थिक-सुधारों की परीक्षा करनी चाहिए।

विदेशी इजारेदारियों के आधिपत्य की समाप्ति—विदेशी इजारेदारों के
आधिपत्य को समाप्त करने वाले राजनैतिक-आर्थिक उपायों की एक व्यवस्था का
क्रियान्वयन तथा विस्तार ग़ैर-पूंजीवादी विकास के लिए संघर्ष की एक प्रमुख
आवश्यकता है। यह व्यवस्था सामाजिक-आर्थिक सुधारों की मुख्य दिशा है क्योंकि
यह साम्राज्यवादी-शक्तियों से आर्थिक-स्वतंत्रता पाने के संघर्ष, सामाजिक-राज-
नैतिक शक्तियों की गुटबंदी और विदेशनीति के साथ बहुत निकटता के साथ
जुड़ी है।

विकासशील देशों में नव-उपनिवेशवाद के अविभाज्य अंग अभी भी बने हुए हैं
इसलिए विदेशी इजारेदारों के आधिपत्य के अंत की ज़रूरत होती है। विदेशी
इजारेदारियाँ विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं के प्रमुख क्षेत्रों में गहरी जड़
जमाई हुई हैं और उनके प्राकृतिक व धन संसाधनों का दोहन करते हुए [illegible]
[illegible] नहीं हैं। वे विकासशील देशों को उनके सम्पूर्ण विकास के लिए आवश्यक

पूंजी से वंचित कर रही हैं क्योंकि वह आवश्यक पूंजी मुनाफों के रूप में बाहर भेज दी जाती है। वास्तव में बहुराष्ट्रीय निगमों के क्रियाकलाप अपने प्राकृतिक व अन्य संसाधनों पर नये देशों की सर्वोच्चता को क्षति पहुँचाते हैं और उनके पिछड़ेपन को स्थायी बनाते हैं।

विकासशील देशों में विदेशी इजारेदारियों की सर्वोच्चता की समाप्ति का कार्य प्रायः इनके उद्यमों के राष्ट्रीयकरण से शुरू होता है। अल्जीरिया, सीरिया, गिनी, पेरू और अन्य देशों ने राष्ट्रीयकरण के अभियान शुरू किये हैं। उदाहरण के लिए अकेले लातीनी अमरीका में 1970-76 के बीच 163 उद्यमों का राष्ट्रीयकरण किया गया।[1] वेनेजुएला, पेरू, इक्वेडोर, गुयाना और जमेका ने मोटे तौर से अपने खनन व तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर दिया है। बेनिन के लोकगणराज्य ने विदेशियों को मिली तेल-रियायतों, कपास का उत्पादन व विक्रय, औषधि-उद्योग, विद्युत-ऊर्जा उत्पादन आदि का राष्ट्रीयकरण कर दिया है। विदेशी इजारेदारियों की सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण जब्ती और क्षतिपूर्ति के द्वारा किया गया है। अर्थव्यवस्था के कुछ विशेष क्षेत्रों में विदेशी पूंजी के निवेश पर रोक लगा कर और उन्हें पूरी तरह से राजकीय उद्यमों का क्षेत्र घोषित करके भी विदेशी इजारेदारियों की गतिविधियों को सीमित किया गया है।

कुछ विकासशील देश विदेशी पूंजी की गतिविधियों को सीमित व नियंत्रित करने के लिए संयुक्त-उद्यमों की स्थापना की नीति पर व्यापक रूप से अमल करते हैं। वे आर्थिक विकास के लिए विदेशी पूंजी, तकनीकी-प्रवीणता और तकनीकी-कर्मियों का उपयोग करते हैं।

कुछ देशों ने, जिन्होंने गैर-पूंजीवादी विकास का मार्ग चुना है, विदेशी कंपनियों द्वारा मुनाफ़ा बाहर ले जाने पर रोक लगायी है और इसके साथ इन कंपनियों को उच्चतर कर भी देना पड़ता है।

जिन देशों ने आर्थिक-विकास के पूंजीवादी रास्ते को अस्वीकार कर दिया है, उनमें निजी उद्यमों का राष्ट्रीयकरण प्रायः काफ़ी व्यापक है। उदाहरण के लिए सीरिया ने अपने बड़े व मध्यम उद्यमों का बहुत बड़ी संख्या में राष्ट्रीयकरण कर दिया है और कांगो के लोकगणराज्य ने बैंकिंग-व्यवस्था व बीमा-कंपनियों का राष्ट्रीयकरण किया है। तंजानिया में राष्ट्रीयकरण समाजवादी दिशा की ओर संक्रमण को प्रोत्साहित करनेवाला मुख्य उपकरण है। यमन के लोकजनवादी गणराज्य, अंगोला, मोज़ाम्बिक, अफ़गानिस्तान, इथोपिया, मेडागास्कर (मलगासी) तथा अन्य देशों ने निजी उद्यमों का राष्ट्रीयकरण करके मूलगामी उपायों का क्रियान्वयन किया है। अपने पहले वाले रास्ते पर चलते हुए मई 1979 में

---

1. 'विश्व-विकास में बहुराष्ट्रीय निगम', न्यूयॉर्क, 20 मार्च, 1978, पृ० 233।

अंगोला की मंत्रिपरिषद ने सौ से अधिक उन निजी उद्योगों व व्यापारिक उद्यमों का राष्ट्रीयकरण कर दिया है जिनके स्वामी देश छोड़कर चले गये थे।

राष्ट्रीयकरण आर्थिक प्रगति को प्रोत्साहित करने वाला कारक है। अल्जीरिया का सकल घरेलू उत्पादन 1973 के 3000 करोड़ दीनार से बढ़कर 1977 में 7000 करोड़ दीनार हो गया। 1978-79 के वित्तीय वर्ष के लिए इथोपिया का औद्योगिक उत्पादन 35 5 प्रतिशत बढ़ा। अदिम अबाबा के चर्म-शोधन उद्योग में राष्ट्रीयकरण के बाद पाँच वर्षों में उत्पादन लगभग दुगना हो गया है।

सरकारी क्षेत्र की स्थापना और उसका त्वरित दृढ़ीकरण—इजारेदारी आधिपत्य के विरुद्ध विकासशील देशों के संघर्ष और उनके स्वतंत्र आर्थिक-विकास के लिए सरकारी क्षेत्र अधिक-से-अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो रहा है। इसका निर्माण विदेशी संपत्ति के राष्ट्रीयकरण व सरकारी उद्यमों की स्थापना, दोनों ही तरीक़ों से होता है। अल्जीरिया के 90 प्रतिशत औद्योगिक उत्पाद सरकारी-क्षेत्र में बनाये जाते हैं। उदाहरण के लिए, राज्य संपूर्ण खनन-उद्योग और ऊर्जा व काँच के सारे उत्पादन का नियंत्रण करता है। 1978 में 100 से अधिक संयंत्र व कारखाने सरकारी क्षेत्र मे थे। सीरिया का लगभग 75 प्रतिशत औद्योगिक उत्पादन और कुल मिला कर इसकी राष्ट्रीय आय का 46 प्रतिशत राजकीय क्षेत्र से जुड़ा है। गिनी, तंजानिया, यमन के लोकजनवादी गणराज्य और अन्य देशों मे बहुत से विदेशी उद्यम, बैंक तथा व्यापारिक कंपनियाँ राजकीय संपत्ति बना दी गयी हैं।

सरकारी क्षेत्र के क्रियाकलाप आर्थिक-प्रक्रिया का नियंत्रण, संसाधनों का संकेंद्रीकरण, अति महत्त्वपूर्ण उद्योगों का निर्माण और राजकीय कोष में वृद्धि को संभव बनाते हैं। इन सबसे विदेशी पूँजी पर निर्भरता को कमजोर करने में सहायता मिलती है। उन सब देशों मे, जिन्होंने विकास के ग़ैर-पूँजीवादी रास्ते को चुना है, सरकारी क्षेत्र जनगण के हित में आर्थिक-विकास को प्रोत्साहित करता है। ये देश जैसे-जैसे इस दिशा में आगे बढ़ते हैं अर्थात् जब मजदूर वर्ग और अन्य मेहनतकश जनगण समाज को नेतृत्वकारी शक्ति बन जाते हैं तब सरकारी क्षेत्र समाजवादी स्वामित्व का आधार बन सकता है। इससे ज्ञात होता है कि साम्राज्यवादी विकासशील देश सरकारी क्षेत्र के विरुद्ध क्यों हैं?

आर्थिक समस्याओं का सामना करते हुए सरकारी क्षेत्र की प्रकृति व सामाजिक कार्य आवश्यक रूप से भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। जहाँ राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग सत्ता में है, वहाँ राजकीय क्षेत्र अनिवार्यतः राजकीय पूँजीवाद होता है। लेकिन ऐसा होने पर भी, विकासशील देशों में भी राजकीय पूँजीवाद राज्य-इजारेदार पूँजीवाद बिल्कुल नहीं है। विकासशील देशों में नये राज्यों की स्थापना में यह एक प्रगतिशील प्रक्रिया है। इसका जन्म साम्राज्यवाद का विरोध करने की उनकी जरूरत से होता है और आर्थिक-स्वतंत्रता के लिए

उनके संघर्ष में यह एक साधन है। सरकारी क्षेत्र के मजबूत होने से केवल उत्पादन सामर्थ्य ही नहीं बढ़ती है, बल्कि सारी सामाजिक-प्रक्रिया का क्रांतिकरण होता है और यह ग़ैर-पूँजीवादी विकास के लिए आर्थिक आधार-शिला बनता है।

विकासशील देशों का औद्योगिकीकरण—औद्योगिकीकरण उपनिवेशी अर्थ-व्यवस्था के पुनर्निर्माण, आर्थिक स्वतंत्रता की सुरक्षा और आर्थिक पिछड़ेपन पर विजय पाने के लिए एक कारक है।

साम्राज्यवादी इजारेदारियाँ विकासशील देशों के औद्योगिकीकरण को रोकने के लिए वह सब कुछ कर रही हैं जो वे कर सकती हैं। वे इन देशों को औद्योगिक रूप से विकसित पूँजीवादी विश्व के लिए लकड़ी चीरने वालों व पानी खींचने वालों के रूप में बनाये रखने की कोशिश कर रही हैं। पूँजीवादी अर्थशास्त्री, इसके अनुरूप विकासशील देशों की सरकार व जनगण को यह समझाने की आशा कर रहे हैं कि उन्हें खनन-उद्योग व उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों को वरीयता देते हुए कुछ विशेष उद्योगों का ही विकास करना चाहिए।

साम्राज्यवाद व आतरिक प्रतिक्रिया के विरुद्ध संघर्ष का तर्क विकासशील देशों के जनवादी क्रांतिकारी नेताओं को अधिक-से-अधिक व लगातार औद्योगिकीकरण के लिए काम करने की प्रेरणा देता है। औद्योगिकीकरण के बिना पिछड़ी हुई क्षेत्रीय आर्थिक-संरचना तथा विदेशी आधिपत्य को समाप्त करना असंभव है और उत्पादन के समस्त क्षेत्रों में उच्च विकास-दर को पाना तथा गरीबी व गाँवों में जनसंख्या के आधिक्य से सफलतापूर्वक संघर्ष करना भी असंभव है। औद्योगिकीकरण से महत्वपूर्ण आर्थिक-सामाजिक परिवर्तन होते हैं और उनसे मजदूर-वर्ग की गुणात्मक व संख्यात्मक वृद्धि होती है।

आज की दुनिया में विकासशील देशों के औद्योगिकीकरण का अर्थ है—अत्यधिक प्रभावी व प्रगतिशील औद्योगिक क्षेत्र तथा उत्पादन-पद्धतियों पर आधारित राष्ट्रीय, भौतिक एवं तकनीकी आधारों का निर्माण, तकनीकी व आर्थिक स्तरों को ऊँचा उठाने के लिए आधुनिकतम वैज्ञानिक व तकनीकी उपलब्धियों का प्रयोग, आर्थिक पिछड़ेपन पर विजय और पुरानी उपनिवेशी-व्यवस्था की पुनर्संरचना। ये सब उपाय एक साथ मिलकर विकासशील देशों में विदेशी इजारेदारों के आधिपत्य तथा उत्पादन के सामंती रूपों को आरंभ में सीमित और पूरी तरह समाप्त करना संभव बनाते हैं। औद्योगिकीकरण आर्थिक-स्वतंत्रता पाने और सामाजिक-संरचना में सुधार करने का रास्ता है।

विकासशील देशों ने कुछ हद तक राष्ट्रीय-उद्योगों की स्थापना में सफलता प्राप्त कर ली है। 1971 की तुलना में 1979 में उनका कुल उत्पादन 5.6 गुना अधिक था जबकि विकसित पूँजीवादी देशों में यह 3.6 गुना अधिक था। उच्चतम विकास-दर ऊर्जा, धातु, रसायन और मशीन-निर्माण उद्योगों में थी।

बहुत भिन्न-भिन्न आर्थिक परिस्थितियाँ होने के कारण विकासशील देशों का औद्योगिकीकरण एक समान नहीं हो सकता। किसी एक देश में अर्थव्यवस्था के किसी एक विशेष क्षेत्र में प्रगति आर्थिक विकास के स्तर तथा प्राप्य प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर है। लेकिन सभी विकासशील देशों में औद्योगिकीकरण के लिए आधुनिक मशीनों पर आधारित विशाल कारखानों, सयंत्रों आदि के निर्माण की जरूरत होती है।

औद्योगिकीकरण उत्पादक-शक्तियों के विकास को प्रोत्साहित करता है। किन्तु सिर्फ औद्योगिकीकरण विकासशील देशों के हितों की जरूरी रूप में पूर्ति नहीं करता है। उनके हितों की पूर्ति ऐसा औद्योगिकीकरण करता है जो सरकारी क्षेत्र को मजबूत बनाता है व निजी पूँजी को सीमित करता है, जो विदेशी इजारेदारियों की स्थिति को कमजोर करता है व राष्ट्रीय उद्योग को मजबूत बनाता है, जो उच्चतर जीवन-स्तरों को ओर अत मे ग़ैर-पूँजीवादी रास्ते पर विकास को प्रोत्साहित करता है। समाजवादी दिशा की ओर उन्मुख देशों की अर्थव्यवस्थाएँ ठीक इसी दिशा में आगे बढ़ती हैं।

विकासशील देशों में औद्योगिकीकरण को गंभीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है क्योंकि उनका संचित-कोष सीमित होता है और उत्पादन के अधिकतर साधनों पर विदेशी इजारेदारियों का स्वामित्व होता है। इससे इजारेदारियों को मुनाफ़ा बाहर भेजने के माध्यम से विकासशील देशों की राष्ट्रीय आय के एक बड़े हिस्से का दोहन करने का अवसर मिल जाता है। बहुराष्ट्रीय निगमों के संबंध मे संयुक्त राष्ट्र संघ के केन्द्र की गणनाओ के अनुसार यदि वर्तमान प्रवृत्ति जारी रही तो ये इजारेदार 1980 के दशक के अंत तक विकासशील व पूँजीवादी दोनों तरह के देशों मे उत्पादन के 40 प्रतिशत भाग पर नियंत्रण करने लगेंगे।

विकासशील देशो मे औद्योगिकीकरण मे इस तथ्य से भी बाधा आती है कि उनकी अर्थव्यवस्थाओं में पूर्व-पूँजीवादी संरचनाएँ अभी भी मौजूद हैं। इसी तरह जमींदारों, उनके नौकर-चाकर तथा जनसंख्या के अन्य मेहनत नहीं करने वाले हिस्सों द्वारा परजीवी उपभोग से राष्ट्रीय राजस्व मे कमी आने से भी औद्योगिकीकरण में बाधा आती है। आर्थिक पिछड़ेपन के कारण संकुचित घरेलू बाजार, अल्प प्रभावी माँग और सांस्कृतिक विकास व व्यावसायिक प्रशिक्षण के निम्न स्तर से भी औद्योगिकीकरण अवरुद्ध होता है।

विकासशील देशों के औद्योगिकीकरण की मुख्य समस्या वित्त-प्रबंध के लिए स्रोत तलाश करना है। विदेशी निवेश, यदि वे सामान्य व्यावसायिक शर्तों पर किये जाते हैं और उनके साथ अन्य शर्तें नहीं जुड़ी होती हैं तो, एक तरीका है। लेकिन विकासशील देशों मे उद्योग-निर्माण की वित्त-व्यवस्था के प्रमुख स्रोत घरेलू संसाधन हैं। इनमे विदेशी पूँजी व विदेशी व्यापारिक इजारेदारियों का राष्ट्रीय-

करण, प्राकृतिक ससाधनो का विकास, विश्व बाजार मे उचित कीमत अथवा तकनीकी उपकरणों के बदले मे अपने उत्पादों की बिक्री, बजट-राशियों के उपयोग पर कठोर नियंत्रण स्थापित करके संसाधनो का संरक्षण और प्रगतिशील कराधान के द्वारा एकत्रित सपत्तिशाली वर्गों की आय का एक भाग—शामिल हैं।

समाजवादी देशों से सभी प्रकार का सहयोग, जिसमें मशीन व उपकरणों का आयात और विशाल उद्यमों के निर्माण व राष्ट्रीय कर्मियों के प्रशिक्षण के लिए अनुकूल शर्तों पर सहायता शामिल है, विकासशील देशो में प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों तरह से आर्थिक-सामाजिक विकास को प्रोत्साहित करता है।

कृषि-सुधार—भूमि-सुधार विकासशील देशों मे सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनो का एक मुख्य साधन है और इसके बिना पिछड़ेपन को दूर करना असभव है। प्रबंध के पूर्व पूंजीवादी रूप और इसके साथ भूमिहीन व भूमि प्राप्त करने की आकांक्षा रखने वाले लाखों-करोड़ों किसान, खाद्य समस्या, घरेलू बाजार के अभी तक संकीर्ण रहने और औद्योगिक विकास के समग्र-स्तर के अभी तक नीचे बने रहने के मुख्य कारण हैं। कृषि व उद्योग के समग्र स्तर को ऊपर उठाने तथा किसानो के जीवन-स्तर मे सुधार करने का उपाय भूमि-स्वामित्व के पुराने रूप व भूमि-प्रबंध के कम उत्पादकता वाले रूपों की समाप्ति, किसानों को सारी भूमि का वितरण, कृषि को तकनीकी ढंग से लैस करना और सहकारी व राजकीय फ़ार्मों का सगठन है। कृषि सबंधों मे परिवर्तन करने मे विकासशील देश आर्थिक पिछड़ेपन पर विजय पाने, सचित निधियो के स्रोतो मे वृद्धि तथा विस्तार करने और सामाजिक-आर्थिक प्रगति व आर्थिक-स्वतंत्रता की राह खोलने मे समर्थ होंगे।

पिछले दो दशकों मे अनेक विकासशील देशो ने भूमि-सुधारो का क्रियान्वयन किया है। उन देशों मे, जिन्होंने विकास के पूंजीवादी रास्ते को चुना है, ये सुधार आवश्यक रूप से अधूरे व सीमित थे। अधिकांश भूमि अभी भी बड़े ज़मींदारों के हाथो मे केन्द्रित है, जिन्हें किसान लगान देते हैं और अधिकांश किसान अभी भी भूमिहीन व भूमि पाने के इच्छुक हैं। भूमि-सुधार का अर्थ प्रायः सबसे खराब व कृषि के लिए अयोग्य भूमि को ऊँची क़ीमत पर खरीद कर ज़मींदारी स्वामित्व को नगण्य रूप में सीमित करना भर रहा है। यह भूमि पूंजीवादी ढग की कृषि मे लगे हुए संपत्तिशाली-वर्ग के हिस्से के द्वारा ही खरीदी जा सकती है जबकि दरिद्रतम किसानो को भूमि की अभी भी बेहद ज़रूरत है। व्यवहार ने दिखाया है कि कुछ विकासशील देशों मे भूमि-सुधार के नाम पर ज़मींदारो की भूमि को आंशिक रूप मे ही *जब्त किया गया* है और *किसान* उस भूमि के *लिए* सरकार को ऊँचा क्षति-पूर्ति-शुल्क देते हैं। पूंजीवाद की ओर उन्मुख विकासशील देशो का राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग मेहनतकश किसानो के हित में कृषि समस्या का समाधान करने में असमर्थ है।

लेकिन जिन विकासशील देशो ने विकास का गैर-पूंजीवादी रास्ता चुना है,

उनमें स्थिति भिन्न है। उनमें से अनेक सामंतविरोधी भूमि-सुधारों में अत्यंत सफल रहे हैं और वे सामंती भूमि-स्वामित्व को नष्ट कर चुके हैं। कृषि-क्षेत्र में काम करने वाली विदेशी कंपनियों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है या उन्हें सरकारी नियंत्रण में ले लिया गया है और राज्य के आर्थिक व संगठनात्मक दोनों तरह के समर्थन से कृषि सहकारी समितियों को काफी हद तक विकसित किया गया है। उदाहरण के लिए, अल्जीरिया में 1962 में कृषि-क्रांति की प्रथम अवस्था में विदेशियों की 20 लाख हेक्टर से अधिक भूमि 2000 राजकीय फ़र्मों व सहकारी समितियों को दे दी गई। नवम्बर 1971 के आरम्भ में देश ने 'कृषि-क्रांति पर कानून' बनाया जिसने समस्त बिना जुती भूमि को राजकीय संपत्ति बना दिया और निजी रूप से रखी जाने वाली भूमि के आकार को सीमित कर दिया। परिणामस्वरूप किसानों को 15 लाख हैक्टर भूमि मिली जिसने उन्हें कृषि-सहकारी समितियों में संयुक्त होने में सहायता दी। अस्सी के दशक के आरम्भ में समस्त कृषि-योग्य भूमि के आधे से अधिक भाग को राजकीय व सहकारी क्षेत्र को हस्तांतरित कर दिया गया था। यमन के लोक जनवादी गणराज्य ने मूलगामी भूमि-सुधारों को पूरा कर लिया है। भूतपूर्व अमीर, सुलतान तथा उनके मंत्रियों की भूमि व संपत्ति बिना किसी भी तरह के मुआवज़े के ज़ब्त कर ली गयी है और कृषि मज़दूर, भूमि के भूखे व भूमिहीन किसानों में बाँट दी गई है। 1979 के आरंभ में यमन में 39 उत्पादन-सहकारी समितियाँ थी जिनका समस्त कृषि-योग्य भूमि के 75 प्रतिशत पर नियंत्रण था। इथोपिया में ज़मींदारों, पादरी-वर्ग और सम्राट व उनके परिवार की सारी ज़मीन का अधिग्रहण कर लिया गया है और उसे राष्ट्रीय संपत्ति घोषित कर दिया गया है। अन्य विकासशील देशों ने भी, जिन्होंने विकास के गैर-पूँजीवादी रास्ते को चुना है, मूलगामी भूमि-सुधारों को आगे बढ़ाने के लिए महत्त्वपूर्ण उपाय किये हैं।

कृषि-सुधारों का क्षेत्र व गति संबंधित देश की राज्य-शक्ति तथा सामाजिक-संरचना पर निर्भर होती है। किसी भी विकासशील देश ने अभी तक अपने भूमि-सुधारों को पूरा नहीं किया है अथवा कृषि-प्रश्न का पूरा समाधान नहीं किया है। फिर भी, जो क़दम उठाये गये हैं, उन्होंने निश्चय ही ज़मींदारी-स्वामित्व को निर्बल किया है तथा मेहनतकश किसानों व कृषि-मज़दूरों के जीवन-स्तर को ऊपर उठाया है और कुछ देशों में मज़दूर-वर्ग व किसानों के बीच गठबंधन को मज़बूत किया है। राज्य-फ़ार्मों के तंत्र का निर्माण और सहकारी फ़ार्मों का संगठन वे प्रमुख तरीके हैं, जिन पर चलकर विकासशील देश आर्थिक विकास के गैर-पूँजीवादी मार्ग में आगे बढ़ रहे हैं।

सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों का विकासशील देशों के साथ सहयोग—विकासशील देशों में आर्थिक पिछड़ेपन तथा साम्राज्यवादी शक्तियों पर

निर्भरता के ऊपर विजय पाने के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ बनाने वाले आतरिक कारकों के साथ बाहरी परिस्थितियाँ—मुख्य रूप से विश्व-समाजवादी व्यवस्था का प्रभाव, दूसरा प्रमुख कारक है। विश्व-समाजवादी व्यवस्था के देश विकासशील देशो को अधिक-से-अधिक आर्थिक व तकनीकी सहायता प्रदान कर रहे हैं। साम्राज्यवाद व नवउपनिवेशवाद के विरुद्ध तथा शांति के लिए संघर्ष में विश्व-समाजवादी व्यवस्था तथा राष्ट्रीय मुक्ति-आदोलन के समान हित इस सहयोग के वस्तुनिष्ठ आधार हैं।

भूतपूर्व उपनिवेशो व पराधीन राष्ट्रो के साथ आर्थिक सबधो पर साम्राज्यवाद की इजारेदारी नष्ट हो गई है। इससे विकासशील देश अपनी आर्थिक-स्वतत्रता को आगे बढाने और अतर्राष्ट्रीय संबंधो के गुणात्मक रूप से नये सिद्धातो की स्थापना में समर्थ हो गये हैं।

पूँजीवादी विचारक समाजवादी देशो के साथ आर्थिक सबधों के महत्त्व को और इस सहयोग तथा साम्राज्यवादी देशो, विकासशील देशों के साथ जिनके आर्थिक सबध उन्हें पूँजीवादी रास्ते पर निर्देशित करने के लिए लक्षित हैं ताकि वे विकासशील देशों का शोषण जारी रख सकें, के नव-उपनिवेशवादी कार्यों के बीच के मूलभूत अतर को मलिन करने के लिए हर संभव प्रयत्न कर रहे हैं।

समाजवादी व विकासशील देशो के बीच आर्थिक सबध विकासशील देशो की आर्थिक प्रगति को प्रोत्साहित करते हैं। सोवियत सघ ने उन्हें जो कुल राशि दी है उसका 77 प्रतिशत उद्योग में निवेश किया गया है जबकि पूँजीवादी सहायता का सिर्फ 28 प्रतिशत इस कार्य में प्रयोग किया गया। साम्राज्यवादी शक्तियाँ अपनी 'सहायता' का उपयोग आर्थिक व राजनैतिक दबाव डालने, अपनी इजारेदारियों के लिए अनुकूल स्थितियाँ बनाने और प्रगतिशील शक्तियों के विरुद्ध सघर्ष में मदद करने के लिए करती हैं। विकासशील देशों के साथ अपने आर्थिक सबंधों मे पूँजीवादी-शक्तियाँ नव-उपनिवेशी उद्देश्यों को आगे बढ़ाती हैं जबकि समाजवादी देश बराबरी के सहयोग के सिद्धात से निर्देशित होते हैं।

समाजवादी देशों ने विकासशील विश्व को जो ऋण व सहायता प्रदान की है, वे उपनिवेशवाद की विरासत को मिटाने, ऋण पाने वालो की अर्थव्यवस्था की पुनर्रचना करने और औद्योगिक-समूहों का निर्माण के लिए वैज्ञानिक व तकनीकी सहायता प्रदान करने मे एक प्रमुख भूमिका अदा करते हैं। साम्राज्यवादी शक्तियों को उधारो से अलग, उनके साथ कोई राजनैतिक, सैनिक या आर्थिक शर्तें नहीं होती हैं। वे आर्थिक-स्वतत्रता के लिए परिस्थितियों का निर्माण करते हुए प्रमुख रूप से विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था के सरकारी क्षेत्र को मजबूत करने मे सहायता देते हैं। पूँजीवादी उधारों का उद्देश्य सरकारी क्षेत्र के विरुद्ध निजी कपनियों की स्थिति को मजबूत करना है। समाजवादी देश अनुकूल शर्तों पर

उधार देते हैं। सोवियत संघ 2-3 प्रतिशत वार्षिक ब्याज की दर पर उधार देता है जिसका पुनर्भुगतान प्रायः 12 वर्ष में करना होता है। पुनर्भुगतान उपकरणों की सुपुर्दगी के पूरा होने के एक वर्ष बाद शुरू होता है। इससे विकासशील देशों को नयी सुविधाओं को चालू करने तथा उनसे आय प्राप्त करने का समय मिल जाता है जिससे वे उधार व ब्याज का पुनर्भुगतान करने में ही समर्थ नहीं हो जाते हैं बल्कि उन्हें निःशुल्क पूँजी भी मिलती है। नियमतः उधार परंपरागत निर्यात योग्य सामान अथवा नवनिर्मित उद्योगों के उत्पादों से चुकाया जाता है।

समाजवादी देश जो आर्थिक व तकनीकी सहायता देते हैं वह विकासशील देशों को अर्थव्यवस्था के सरकारी क्षेत्र का निर्माण करने व उसे मजबूत करने, आर्थिक-विकास की दरों को बढ़ाने, साम्राज्यवादी इजारेदारियों के विस्तार के विरुद्ध उनकी रक्षा करने और इसके साथ जीवन-स्तरों को ऊँचा करने तथा उनकी प्रतिरक्षा क्षमता को मजबूत करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

समाजवादी देश अब एशिया, अफ्रीका व लातीनी अमेरिका के 60 से अधिक देशों को आर्थिक व तकनीकी सहायता देते हैं और 1500 करोड़ से अधिक की दीर्घकालीन उधार सहायता दे चुके हैं जिसमें 70 प्रतिशत से अधिक सोवियत संघ ने दिया है। इन समाधनों ने 4400 से अधिक औद्योगिक उद्यमों व अन्य आर्थिक-परियोजनाओं के लिए (जिनमें 200 मशीन-निर्माण व धातु-ससाधित करने के संयन्त्र, 230 तेल-शोधन व रसायन उद्योग और कृषिजन्य उत्पाद, खाद्य व उपभोक्ता सामान बनाने वाले 1120 कारखाने शामिल हैं) वित्त-व्यवस्था की है। विकासशील देशों में समाजवादी देशों की सहायता से जो लौह-धातु संयंत्र बने हैं या बन रहे हैं, वे तीन करोड़ टन इस्पात का वार्षिक उत्पादन करते हैं। परस्पर आर्थिक सहायता परिषद् के सदस्यों ने जिन ऊर्जा-केन्द्रों को बनाने में सहायता दी है या दे रहे हैं, उनकी स्थापित क्षमता अब 160 लाख किलोवाट से अधिक है। यह क्षमता इतनी मात्रा में ऊर्जा उत्पादन करने में समर्थ है जो प्रतिवर्ष 250 लाख टन तेल, बाजार में जिसकी कीमत अब 500 करोड़ डॉलर है, की बचत करेगी।

समाजवादी देश जिन उद्यमों के निर्माण में सहायता देते हैं, वे राज्य की पूरी सम्पत्ति बन जाते हैं। इससे आर्थिक-नियोजन की पूर्वापेक्षाओं का निर्माण होता है।

सोवियत संघ विकासशील देशों के साथ पारस्परिक लाभप्रद आधारों पर आर्थिक व तकनीकी सहयोग करता है। विकासशील देशों को नयी आर्थिक-इकाइयाँ, मुख्य रूप से अर्थव्यवस्था के केन्द्रीय क्षेत्रों में प्राप्त होती हैं और इनसे अधिक रोजगार एवं उच्चतर जीवन-स्तरों को प्रोत्साहन मिलता है। बदले में सोवियत संघ अपनी जरूरत की वस्तुएँ जैसे, अलौह धातु व धातु के सान्द्रित, तेल, गैस, रेशेदार कपास, प्राकृतिक रबर, पटसन, चावल, चाय, कॉफी, कोको, तेल,

फल आदि प्राप्त करता है।

वैज्ञानिक तकनीकी कर्मियों व अन्य विशेषज्ञों और कुशल श्रमिकों के प्रशिक्षण में समाजवादी देशों की सहायता और इसके साथ तकनीकी-ज्ञान में उनकी साझे-दारी भी विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। पारस्पर आर्थिक सहायता परिषद् के देश लगभग 4 लाख तकनीकी विशेषज्ञों के प्रशिक्षण में सहायता दे चुके हैं और लगभग 40 हज़ार युवा-जन समाजवादी देशों में उच्चतर शिक्षा पूरी कर चुके हैं और लगभग इतने ही अध्ययन जारी रखे हुए हैं।

उपनिवेशी निर्भरता से मुक्त हुए देशों को समाजवादी देश उनकी न्यायपूर्ण माँगों के लिए राजनैतिक समर्थन ही नहीं दे रहे हैं बल्कि उनकी आर्थिक स्वतंत्रता के आधारों की रचना व उनकी मज़बूती के लिए प्रत्यक्ष सहायता भी दे रहे हैं। सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की 26वीं कांग्रेस में लियोनिद ब्रेझनेव ने कहा था—"अब यह बिल्कुल साफ़ है कि विश्व में वर्ग-शक्तियों के वर्तमान सह-संबंधों के रहते मुक्त हुए देश साम्राज्यवादी देशों के निर्देशों का विरोध करने और न्यायपूर्ण अर्थात् समान स्तर के आर्थिक-संबंधों को प्राप्त करने में पूरी तरह समर्थ हैं। यह भी साफ़ है कि शांति और जनगण की रक्षा के सामान्य संघर्ष में उनके पहले से ही काफ़ी योगदान के और भी अधिक महत्वपूर्ण बन जाने की संभावना है।"[1]

समाजवादी देश विकासशील देशों की सहायता उनकी रक्षा-सामर्थ्य को मज़बूत करने के लिए कर रहे हैं ताकि वे साम्राज्यवादी शक्तियों तथा उनके समर्थकों के आक्रमण और सैनिक दबाव का मुकाबला कर सकें। सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देश किसी प्रकार की विशेष सुविधा, राजनीतिक प्रभुता या सैनिक अड्डे नहीं चाहते हैं। इसका अकाट्य प्रमाण अंगोला और इथोपिया की घटनाओं से मिलता है जहाँ सोवियत संघ तथा क्यूबा की सहायता ने आक्रमण-कारियों की योजनाओं को विफल कर उन्हें वापस जाने को विवश कर दिया। यह नीति अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के अंतर्गत सोवियत संघ के वायदों के अनुकूल ही नहीं है अंतर्राष्ट्रीय कानून व संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के भी अनुकूल है।

अंगोला की सार्वभौम सरकार के अनुरोध पर क्यूबा की सेना की उपस्थिति के साथ अंगोला की रक्षा करने में सोवियत सहायता भी एक स्थिरता लाने वाला कारक था। दोनों कारकों ने ऐसी स्थिति में देश की स्वतंत्रता को मज़बूत करने और उसकी क्षेत्रीय अखंडता की रक्षा करने में सहायता दी है जबकि दक्षिण अफ्रीका के नस्लवादी अब भी अपनी आक्रामक कार्यवाहियाँ जारी रखे हैं

1 एल० आई० ब्रेझनेव, सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति की रि[पोर्ट] और गृह व विदेश नीति में पार्टी के तात्कालिक कार्यभार, नोवोस्ती प्रेस एजेंसी प[ब्लि]शिंग हाउस, मास्को, 1981, पृ० 221 (अंग्रेज़ी में)।

आकाश से अंगोला पर बमबारी कर रहे हैं और नामीबिया (जिस पर उन्होंने अभी भी अधिकार किया हुआ है और जिसका वे भीतरघात के लिए अड्डे के रूप में इस्तेमाल कर रहे हैं) से नागरिक बस्तियों पर गोलाबारी कर रहे हैं।

दूसरा उदाहरण इथोपिया को समाजवादी देशों की सहायता है। 1978 में और आज, दोनों ही बार इस सहायता ने अफ्रीका के सींग प्रदेश में राजनीतिक स्थिति को सामान्य बनाने में मदद की और अब भी मदद कर रही है।

अफ्रीका, एशिया और लातीनी अमरीका में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष मजबूत होता जा रहा है और नयी अवस्था में प्रवेश कर रहा है। विकासशील देशों के आंतरिक मामले में 'सोवियत हस्तक्षेप' तथा 'सोवियत खतरे' की कल्पित-कथा को स्वयं वास्तविकता ने नष्ट कर दिया है। इन सच्चाइयों से प्रगतिशील शक्तियाँ इस बात से पूरी तरह अवगत हैं कि ये कल्पित-कथाएँ उन लोगों द्वारा गढ़ी जाती हैं जिन्हें अपने विस्तार को बढ़ाने के लिए बहाने की जरूरत है ताकि वे शांति, समाजवाद तथा राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के विरुद्ध संघर्ष करने और जिन देशों ने उपनिवेशी जुआ उतार फेंका है, उन देशों में राष्ट्रों के शोषण व लूटमार की नव-उपनिवेशी व्यवस्था को बनाये रखने के लिए विकासशील देशों का अड्डों के रूप में इस्तेमाल कर सकें।

विकासशील विश्व के सामने प्रस्तुत अत्यंत महत्वपूर्ण मामलों—उपनिवेशी विरासत के अंत, नव-उपनिवेशवाद की बेड़ियों से बाहर निकलने, आर्थिक पिछड़ेपन पर विजय पाने और अर्थव्यवस्था में उपनिवेशवाद की समाप्ति के कार्य को बढ़ाने के लिए समाजवादी देश मूलतः नये राजनैतिक तरीकों को प्रतिपादित करने में सक्रिय रहे हैं।

सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों ने राज्यों के आर्थिक अधिकार व कर्त्तव्यों के संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर और नवीन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक-व्यवस्था की स्थापना के घोषणापत्र की प्रगतिशील अंतर्वस्तु तथा साम्राज्यवाद-विरोधी दिशा का समर्थन किया है। सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की 26वीं कांग्रेस मे प्रस्तुत केन्द्रीय-समिति की रपट में इस पर बल दिया गया है कि अब से पार्टी विकासशील देशों के साथ सोवियत संघ के सहयोग को विकसित करने और विश्व-समाजवाद व राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के बीच मैत्री को मजबूत करने की नीति पर दृढ़ता से चलेगी। यह बताया जाना चाहिए कि संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा इन दस्तावेजों में निहित सिद्धांतों का समर्थन करने से काफ़ी पहले ही समाजवादी देशों ने उन्हें अपने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के आधार के रूप मे स्वीकार कर लिया था। इस बीच साम्राज्यवादी शक्तियों की नीति विश्व-पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में अपने विशेष सुविधा-प्राप्त स्थान को सुरक्षित रखने, विकासशील देशों को इस व्यवस्था के भीतर बनाये रखने तथा उनके और अधिक मात्रा में शोषण की

दशाओं का निर्माण करने की ओर निर्देशित रही है।

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की पुनर्संरचना सबसे पहले इस पर निर्भर है कि विकासशील देश आर्थिक क्षेत्र में नव-उपनिवेशवाद के विरुद्ध किस प्रकार सुसगत संघर्ष करते हैं, अपने प्राकृतिक संसाधनों पर अपनी सर्वोच्चता की रक्षा किस सुसगत रूप में करते हैं और अपनी भूमि में काम करने वाली साम्राज्यवादी इजारेदारियों पर किस सुसगत तरीके से नियंत्रण करते हैं।

अध्याय : 4

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की बढ़ती हुई अस्थिरता और गतिहीनता

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में बढ़ती अस्थिरता तथा गतिहीनता पूंजीवाद के आम-संकट का एक विशिष्ट लक्षण है और यह पूंजीवाद द्वारा अपनी शक्तियों के पूर्ण उपयोग मे असमर्थता मे स्पष्ट होता है। यह साम्राज्यवाद के भीतर की एक आन्तरिक प्रक्रिया है, जिसका सारतत्व यह है कि पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन-संबंध अपने सापेक्ष प्रगतिशील चरित्र को खो चुके हैं और विकास के एक उपकरण की जगह सामाजिक प्रगति को अवरुद्ध करने वाले प्रमुख कारक के रूप में बदल गये हैं। इजारेदारी आधिपत्य पूंजीवाद मे अस्थिरता तथा गतिहीनता बढ़ाने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण उपादान है। उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व के साथ इजारेदारी के सभी रूप गतिहीनता की प्रवृत्तियों को उत्पन्न करते हैं।

1. उत्पादन-दक्षताओं का स्थायी अपूर्ण-उपयोग

अपनी उत्पादक-शक्तियों के पूर्ण उपयोग में पूंजीवाद की असमर्थता औद्योगिक उद्यमों मे स्थायी अपूर्ण-उपयोग के तथ्य से तीव्रता के साथ स्पष्ट होती है। पूर्व-इजारेदार पूंजीवाद तथा आरंभिक साम्राज्यवाद (प्रथम महायुद्ध से पहले) के समय में औद्योगिक-उद्यमों मे व्यापक अपूर्ण-उपयोग केवल आर्थिक संकट के समय ही दिखलायी देता था। पूंजीवाद के आम-संकट के युग मे यह पूंजीवाद का स्थिर एवं दीर्घकालिक लक्षण बन गया है और इसे आर्थिक-चक्र की सभी अवस्थाओं में—संकट व मंदी के समय तथा अर्थव्यवस्था की सक्रियता व आगे बढ़ने के समय—देखा जा सकता है।

पूंजीवादी विश्व मे उत्पादन-दक्षताओं का स्थायी अपूर्ण उपयोग इस तथ्य से वर्द्धित होता है कि तकनीकी प्रगति के द्वारा उत्पन्न औद्योगिक-उन्नति के विकास

के साथ विदेशी व घरेलू बाजार का परिसीमन समानांतर रूप में होता है। वस्तुओं के विक्रय का सामना सापेक्ष रूप से सीमित प्रभावी मांग और बढ़ती हुई भूमंडलीय प्रतियोगिता से होता है। विकास-दरों के ऊंचा होने के समय भी उत्पादन पूर्ण-क्षमता के 90 प्रतिशत से अधिक कभी-कभी ही होता है। उत्पादन की औसत 75-80 प्रतिशत रहती है जबकि कभी-कभी तो कुछ उद्योगों में उत्पादन 40-50 प्रतिशत ही रह जाता है।

दो महायुद्धों के बीच के सारे समय में अमरीका, ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस तथा अन्य पूंजीवादी देशों के उद्योगों ने अपनी क्षमता के 50-66 प्रतिशत तक काम किया। दूसरे शब्दों में, पूंजीवादी विश्व के उद्योगों ने वास्तव में जितना उत्पादन किया, समान उत्पादन संयंत्रों की सहायता से वे डेढ़ गुना से दो गुना तक अधिक निर्माण कर सकते थे। आर्थिक संकट के समय अपूर्ण-उपयोग और भी ज्यादा था। सबसे बड़े पूंजीवादी देश अमरीका में दीर्घकालिक अपूर्ण-उपयोग विशेष रूप से आश्चर्यजनक रहा है, जहाँ कि अर्थव्यवस्था में उभार के समय भी उत्पादन कुल क्षमता से बहुत कम रहा। उदाहरण के लिए ब्रूकिंगस् संस्थान के अनुसार 1925-29 में उपलब्ध उपकरणों के सिर्फ 80-82 प्रतिशत का उपयोग हुआ। 1948-53 में अमेरिका के निर्माण-उद्योग की उत्पादन-क्षमताओं के 92-95 प्रतिशत और 1954-66 में 75-91 प्रतिशत सामर्थ्य का उपयोग हुआ। 1972 व 1973 के अपवाद के अलावा 1967 से 1975 तक के समय में अमेरिका के निर्माण-उद्योग में अपूर्ण-उपयोग की बढ़ती हुई प्रवृत्ति दिखाई दी। 1975 में औद्योगिक उपकरणों ने 1966 के 91.1 प्रतिशत की तुलना में 73.6 प्रतिशत सामर्थ्य का उपयोग किया। 1975 में, जिस वर्ष उत्पादन में सबसे अधिक गिरावट दिखाई दी, युद्ध के बाद सबसे कम 70 9 प्रतिशत सामर्थ्य का उपयोग हुआ। बाद के वर्षों में उत्पादन धीरे-धीरे अधिक सामर्थ्य की ओर बढ़ा। लेकिन उद्योगों के उभार के समय भी (1977-78) उत्पादन-क्षमता का लगभग 17 प्रतिशत भाग निष्क्रिय रहा।

विकसित पूंजीवादी देशों के निर्माण-उद्योगों में 10-15 प्रतिशत और इससे अधिक क्षमता का अनुपयोग प्रत्येक 7-10 वर्ष की अवधि में एक वर्ष के उत्पादन की हानि करता है।

अमेरिकन अर्थशास्त्री ए० एच० हानसेन ने बताया है—"विगत दो अर्थ-दशकों में सकल राष्ट्रीय उत्पादन का लेखा सम्पूर्ण रोजगार के स्तर से 50 अरब डॉलर कम रहा है।"[1]

---

1 ए० एच० हानसेन, "युद्धोत्तर अमरीकी अर्थव्यवस्था : निष्पादन और समस्याएं", डब्ल्यू० डब्ल्यू० नॉर्टन एंड कंपनी, न्यूयॉर्क, 1964, पृ० 9।

उत्पादन-दक्षताओं का स्थायी अपूर्ण उपयोग पूँजीवादी पुनरुत्पादन को अवरुद्ध करता है, क्योंकि इससे वापस-भुगतान की प्रक्रिया मंद व उत्पादन के साधनों पर की जाने वाली माँग कम हो जाती है तथा बाजार-सामर्थ्य गिर जाती है, जिसके फलस्वरूप पहले मानव-शक्ति और फिर उपभोक्ता-वस्तुओं की माँग कम होने लगती है। इसके साथ मौद्रिक-पूँजी का उत्पादन-पूँजी में परिवर्तन और जमा पूँजी का नवीकरण कठिन हो जाता है जिससे नवीन उद्यमों के निर्माण व चालू उद्यमों के विस्तार की प्रेरणाएँ कम होने लगती हैं।

इस प्रकार पूँजीवाद में अंतर्निहित दो विरोधी प्रवृत्तियाँ—(जिन्हें लेनिन ने बताया था)—उत्पादक-शक्तियों का तीव्र विकास और उनकी अभिवृद्धि में रुकावट—आज भी काम कर रही हैं। उत्पादन-दक्षताओं का स्थायी अपूर्ण-उपयोग, प्रौद्योगिक प्रगति और पूँजीवादी विश्व में इसके उपयोग की दशाओं के बीच अंतर्विरोध का सुस्पष्ट प्रमाण है।

पूँजीवादी विश्व में उत्पादन-दक्षताओं का स्थायी अपूर्ण-उपयोग आधुनिक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के गतिहीन होने का सूचक है जो उत्पादक-शक्तियों के एक प्रमुख घटक अर्थात् उत्पादन के साधनों के व्यवस्थित रूप से कम उपयोग को सूचित करता है। इसके साथ यह स्थिर पूँजी के नवीकरण को मन्द करता है। यह पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में आंतरिक अस्थिरता का एक प्रमुख कारक है।

2. बहुसंख्य बेरोजगारी की पुरानी बीमारी

बेरोजगारी पूँजीवादी उत्पादन का अनिवार्य संगी है। प्रथम महायुद्ध से पहले बेरोजगारी प्रमुख रूप से आर्थिक-संकट के समय महत्त्वपूर्ण रूप में बढ़ती थी और अर्थव्यवस्था में उभार व चक्रीय पुनरुत्थान के समय कम हो जाती थी। लेकिन जैसे-जैसे पूँजीवाद का आम-संकट प्रकट होने लगा, बेरोजगारी पूँजीवादी पुनरुत्पादन के अर्थचक्र की सभी अवस्थाओं में अवश्यंभावी हो गयी। उत्पादन-क्षमताओं के स्थायी रूप में कम क्षमता पर संचालन के साथ श्रम के दीर्घकालिक अल्प-उपयोग की प्रवृत्ति जुड़ी हुई है। ये दोनों, अपनी उत्पादन-क्षमताओं के सम्पूर्ण तथा प्रभावकारी उपयोग करने में आधुनिक पूँजीवाद की असमर्थता की सूचक हैं।

पूँजीवादी देशों के आधिकारिक आँकड़े बेरोजगारों की वास्तविक संख्याओं को प्रतिबिम्बित नहीं करते हैं क्योंकि इनमें सप्ताह के कुछ भाग ही में करने वाले या अंशकालिक काम करने वाले, शिक्षा पूरी करके काम की तलाश करने वाले युवक और बेरोजगारी के लाभों को खो चुकने वाले मजदूर शामिल नहीं होते हैं।

औद्योगिक रूप से विकसित पूँजीवादी विश्व में आज बेरोजगारी की दर अत्यन्त ऊँची है। आधिकारिक आँकड़ों के अनुसार ही 1978 में पूँजीवादी विश्व के देशों में बेरोजगारों की संख्या 150 लाख अथवा कुल सक्रिय श्रम-शक्ति के 5.5

प्रतिशत से भी अधिक थी। यह 1960 के दशक मे औसत बेरोजगारी के स्तर से दुगने से भी अधिक है। अमरीका मे, कामो की सख्या मे वृद्धि के बावजूद, 80 के दशक के आरम्भ मे बेरोजगारी बहुत विकट सामाजिक-आर्थिक समस्या बनी हुई थी। 1978 मे अमरीका मे बेरोजगारो की सख्या 65 लाख अर्थात् कुल सक्रिय श्रम-शक्ति का 6 प्रतिशत थी। पश्चिमी जर्मनी मे 1974-78 के बीच लगभग 80 मजदूर तथा कार्यालय-कर्मचारी एक या दूसरी तरह से बेरोजगारी के शिकार हुए। जापान में 1978 मे बेरोजगारी की दर युद्ध के बाद के उसके इतिहास मे सबसे ज्यादा थी। सिर्फ उस वर्ष में पूरी तरह बेरोजगारो की सख्या मे 12.7 प्रतिशत की वृद्धि हुई और यह सख्या बढकर 12 लाख 60 हजार हो गयी।[1]

बेरोजगारी श्रम-शक्ति के सभी भागो को प्रभावित करती है, विशेष रूप से सामान्य श्रमिको व नौजवानो और जातीय भेदभाव के शिकार लोगो को प्रभावित करती है। साठ के दशक के उत्तरार्द्ध से अमरीका मे नौजवानो के बीच बेरोजगारी की दर औसत से तीन गुना ज्यादा रही है। 1978 के अत मे, 16 व 19 वर्ष के बीच के 14 प्रतिशत से अधिक नौजवान बेरोजगार थे जबकि कुल बेरोजगारी की सख्या 6 प्रतिशत थी और काले व अन्य रंगो के जनगणो के बीच बेरोजगारी की दर 34.6 प्रतिशत थी। इसके साथ कुछ बहुत विकसित पूंजीवादी देश नयी उच्च तकनीक वाले उद्योगों से जुडे नये व्यावसायिक कार्यों के लिए कुशल मजदूरो को संगीन कमी का सामना कर रहे हैं। यह स्थिति वैज्ञानिक व तकनीकी क्राति से जुडे प्रौद्योगिक व सरचनात्मक परिवर्तनो को प्रतिबिम्बित करती है।

जो एक या दूसरे कारण से उत्तम शिक्षा पाने में असमर्थ रहे हैं, वे ही सिर्फ बेरोजगारी के शिकार नहीं हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त तथा उच्चस्तरीय कुशल विशेषज्ञो की एक बड़ी संख्या भी आज काम से बाहर है। 1979 मे अमरीका मे निम्न व्यावसायिक वर्ग मे बेरोजगारों की सख्या की तुलना मे उच्चतर शिक्षा प्राप्त विशेषज्ञ अधिक सख्या मे बेरोजगार थे। उच्चतर शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों मे बेरोजगारी की दर अन्य देशो मे भी इसी प्रकार बढ़ रही थी। अमरीका के समाचारपत्रों की रपट के अनुसार 1953-65 मे बेरोजगारी से हुए नुकसान की राशि 500-700 अरब डॉलर अर्थात् प्रति वर्ष 39 से 54 अरब डॉलर के बीच थी। बेरोजगारी से मेहनतकशों की कुशलता की हानि भी होती है। यह श्रम-शक्ति का अवमूल्यन करती है, नये उद्योगों को कुशल-कर्मी प्रदान करने की समस्या को जटिल बनाती है और पूंजीवादी समाज मे सामाजिक द्वद्वो को तीक्ष्ण करती है।

पूंजीवादी उद्यमों मे दीर्घकालिक अपूर्ण-उपयोग के समान दीर्घकालिक

---

1. श्रम-आँकड़ों की वार्षिक पुस्तक, 1978; अंतर्राष्ट्रीय श्रम सगठन, 1978, पृ० 241-289 (अंग्रेजी मे)।

बेरोजगारी का तथ्य भी यह बतलाता है कि पूंजीवादी समाज की उत्पादक शक्तियों के उपयोग में आधुनिक पूंजीवाद असमर्थ है और यह उनके विकास में रुकावट बन गया है।

3. अर्थव्यवस्था का सैन्यीकरण

आधुनिक पूंजीवाद की गतिहीनता और परजीविता की सबसे अनर्थकारी अभिव्यक्ति अर्थव्यवस्था का सैन्यकरण और शस्त्र-दौड़ है। अर्थव्यवस्था के सैन्यीकरण से ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है कि विज्ञान और तकनीक का प्रयोग जीवन-स्तर व काम की अवस्थाओं में सुधार करने तथा सम्पदा के निर्माण करने के लिए न किया जाकर सामूहिक-विनाश के साधन उत्पन्न करने के लिए किया जाने लगता है।

सैन्यवाद इजारेदारी आधिपत्य तथा साम्राज्यवाद के सारतत्व में निहित है। लेनिन ने लिखा है—*"साम्राज्यवाद···अपनी मूलभूत आर्थिक विशेषताओं के कारण, शांति व स्वतंत्रता के लिए न्यूनतम पसंद और सैन्यवाद के अधिकतम व सार्वभौम विकास के द्वारा पहचाना जाता है।"*[1] समाजवादी क्रांति से डरते हुए वित्तीय अल्पतंत्र (साम्राज्यवादी देशों में शासकीय विशिष्ट वर्ग) सैन्यकरण का उपयोग उत्पीड़ित व शोषित मेहनतकशों के आर्थिक-राजनीतिक संघर्ष को दबाने और अपनी सर्वोच्चता को दीर्घजीवी बनाने के लिए करता है।

दूसरी ओर साम्राज्यवाद के युग की विशेषता वित्तीय गुटों तथा देशों के बीच बाजारों, कच्चे माल के स्रोत और पूंजीनिवेश के क्षेत्रों के लिए तीखा संघर्ष होता है और यह संघर्ष सशस्त्र संघर्ष व भिड़न्तों को बढ़ाता है।

सैन्यवाद, इजारेदार पूंजीवाद में आंशिक रूप से अंतर्निहित उसकी विशेषता है जो विश्व को विभाजित करने के लिए साम्राज्यवादी संघर्ष और मजदूर-वर्ग एवं जनवादी राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के सैनिक-दमन की इच्छा से निर्धारित होता है। इस संबंध में लेनिन ने लिखा है—*"आधुनिक सैन्यवाद पूंजीवाद का परिणाम है। अपने दोनों रूपों में—पूंजीवादी देशों द्वारा अपने बाहरी संघर्षों में प्रयुक्त सैनिक-शक्ति के रूप में···और सर्वहारा के आर्थिक, राजनीतिक व हर प्रकार के आंदोलनों के दमन के लिए शासक-वर्ग के हाथ में शस्त्र के रूप में—यह पूंजीवाद की महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति है।"*[2]

सैन्यवाद के [illegible] शस्त्र-दौड़ की दूसरी अभिव्यक्ति साम्राज्य-

1. वी॰ आई॰ लेनिन, '[illegible]', संकलित रचनाएं, खण्ड 23, पृ॰ [illegible] (अंग्रेजी में)।
2. वी॰ आई॰ लेनिन, 'जुझारू सैन्यवाद और सामाजिक जनवाद की सैन्यवाद-विरोधी कार्यनीति', संकलित रचनाएं, खण्ड 15, पृ॰ 192 (अंग्रेजी में)।

द के युग मे विशेष तीव्रता के साथ देखी जा सकती है। पूँजीवाद के आम-सकट अंतर्गत साम्राज्यवादी देशो का बढ़ता हुआ सैन्यवाद प्रमुख रूप से समाजवादी ुदाय और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनो के विरुद्ध होता है। सैन्यवाद के विकास के ्वल राजनैतिक ही नही, आर्थिक कारण भी हैं—शस्त्र-दौड़ एक ऐसा तरीका जिससे इजारेदार आश्चर्यजनक रूप मे धनी हो जाते हैं। यह उनके लिए रकारी सैन्य-ठेके निश्चित करता है जिनसे लाखों का मुनाफा होता है। राज्य शीनरी का एक विशाल सैन्य-शक्ति के निर्माण के लिए राष्ट्रीय आय (प्रत्यक्ष व प्रत्यक्ष कर, राज्य-ऋण, सामरिक महत्त्व के कच्चा माल पर नियत्रण आदि) के नर्वितरण मे किया जाता है।

अर्थव्यवस्था के सैन्यकरण का परिणाम अस्त्र-शस्त्र और सेना पर खर्च मे ारी वृद्धि होता है। उदाहरण के लिए नाटो-संधि के देश, बीस के दशक मे ारा विश्व सैनिक-उद्देश्यो के लिए जितना खर्च करता था, उससे 40 गुना अधिक ार्च करते हैं। लंदन के सामरिक-अध्ययन के अंतर्राष्ट्रीय सस्थान के अनुसार 949-79 में नाटो देशो का सैनिक खर्च 2700 अरब डॉलर था। पूँजीवादी ्शो मे सैनिक खर्च लगातार बढ़ रहा है—अस्सी के दशक के आरभ मे यह खर्च 100 अरब डॉलर वार्षिक हो गया था। यह स्वास्थ्य पर सरकारी खर्च से 150 ुना और शिक्षा पर खर्च से 50 गुना ज्यादा है। 1978 मे अकेले नाटो-देशो ने ास्त्र-दौड़ पर 190 अरब डॉलर खर्च किये थे।[1]

अमेरिका मे, जो साम्राज्यवाद का प्रमुख राजनैतिक व सैनिक केन्द्र है, सैनिक-खर्च मे तीव्र-वृद्धि एक विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण सदर्शक है। 1861-65 के गृह-युद्ध के समय और 1930 के दशक तक प्रत्यक्ष सैनिक खर्च प्राय: देश के सकल राष्ट्रीय उत्पादन के एक प्रतिशत से अधिक नहीं होता था। 1922-37 के बीच वार्षिक कुल खर्च एक अरब डॉलर से कम था। लेकिन दूसरे महायुद्ध के बाद के वर्षों मे अमरीका के सैनिक खर्च मे अप्रत्याशित वृद्धि हुई, जैसा कि इन संख्याओं मे दिखाई देता है—1949 मे 13.5 अरब डॉलर, 1968 में 79.6 अरब डॉलर और 1980 मे 146.2 अरब डॉलर।[2] इसका अर्थ यह है कि पेंटागन का प्रतिव्यक्ति खर्च 1913 में 2 25 डॉलर, 1952 मे लगभग 250 डॉलर और 1980 मे 600 डॉलर था।

पूँजीवादी विश्व में सैनिक-तैयारियाँ अप्रत्याशित शांतिकालीन स्तर पर पहुँच गयी हैं। अस्सी के दशक के आरभ मे विकसित पूँजीवादी देशों की सेनाओं मे 140 लाख आदमी सेवारत थे, इनमें से एक करोड़ नाटो देशो की सेवाओं मे

---

1. 'सैन्य सतुलन 1978-79', लदन, पृ० 33 89।
2. 'सयुक्त राज्य अमरीका का सक्षिप्त बजट : वित्तीय वर्ष 1981', पृष्ठ 70-71।

थे। इनके अलावा कितने ही लाखों व्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सैनिक-उत्पादन में लगे हुए हैं। उदाहरण के लिए अमरीका के शस्त्र-उद्योग में 60 लाख व्यक्ति काम करते हैं। विकसित पूंजीवादी देशों के निर्माण-उद्योगों में काम करने वालों की कुल संख्या के लगभग एक-चौथाई सबसे श्रेष्ठ कार्यकुशल मजदूर और लाखों वैज्ञानिक व अनुभवी इंजीनियर सैनिक-औद्योगिक-समूहों के लिए काम करते हैं।

साम्राज्यवादी देशों में विज्ञान के विकास को काफी हद तक प्रतिक्रियावादी आक्रामक उद्देश्यों के अधीन कर दिया गया है। अस्सी के दशक के आरंभ में अमरीका में शोध एवं विकास के कुल खर्च का लगभग 75 प्रतिशत सैन्यकरण में संबंधित था। युद्ध-उद्योग अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों से पूंजी, कुशल श्रमिक, कच्चा माल तथा उपकरण अपनी ओर खींचता है।

सैन्यकरण विकास को मंद करने और उत्पादक शक्तियों को नष्ट करने वाला एक प्रमुख कारक है। यह तथ्य कि सैन्यवाद अर्थनीति व राजनीति का आंगिक घटक बन गया है, इसका सुस्पष्ट प्रमाण है कि पूंजीवाद के अस्तित्व का बने रहना कुल मिलाकर मानवता की सुरक्षा एवं महत्वपूर्ण हितों की दृष्टि से असंगत है। *ऐसा होने पर भी पूंजीवादी अर्थशास्त्री मेहनतकशों को यह समझाने का प्रयत्न कर* रहे हैं कि अर्थव्यवस्था का सैन्यीकरण सिर्फ आर्थिक-संकट पर ही नहीं, पूंजीवाद के आम-संकट पर भी विजय पाने में सहायक हो सकता है। सिमोन कुजनेत्स, प्रसिद्ध पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों में एक, कहते हैं कि युद्ध, चाहे सशस्त्र हो या शीत, उस देश को, आर्थिक-विकास के मंद होने के कारण जिसने अपनी आर्थिक स्थिति खो *दी हो, ऐसी प्रेरणा दे सकता है कि उसके विकास की प्रवृत्तियां पहचान से परे* बदल जाएं। एल्विन एच० हानसेन भी लगभग यही दुहराता है जब वह यह दावा करता है कि सैनिक-खर्च ने अमरीका को गरीब नहीं बनाया है। यद्यपि सैनिक उत्पादन का विस्तार, विशेष रूप से आरंभ में, अर्थव्यवस्था को कुछ हद तक प्रोत्साहित कर सकता है, किंतु अंतिम रूप से सैन्यवाद, भारी मात्रा में भौतिक व मानवीय संसाधनों तथा राष्ट्रीय आय के अधिकांश भाग को सैनिक जरूरतों में खींचकर विस्तारित पुनरुत्पादन के आधार को नष्ट करता है।

आर्थिक दृष्टि से सैनिक-उत्पादन और सशस्त्र सेनाओं का रख-रखाव *सामाजिक-उत्पादन के एक बड़े भाग का अनुत्पादक व्यय है।* सैनिक उत्पादन को असैन्य उद्योगों की कीमत पर बढ़ाया जाता है। इससे असैन्य उद्योगों की वृद्धि-दर कम हो जाती है। राष्ट्रीय आय का जो भाग सैनिक-उद्देश्यों पर खर्च किया जाता है, उसे अर्थव्यवस्था में पुनः नहीं लगाया जाता। सैनिक-उत्पाद उत्पादन के तत्त्वों की वस्तु अथवा मूल्य के रूप में क्षतिपूर्ति नहीं करते हैं। संसाधनों की भारी मात्रा को अनुत्पादक सैनिक-जरूरतों में लगाकर सैन्यकरण

समग्र अर्थव्यवस्था की वृद्धि-दर को कम करते हुए संसाधनों के परिमाण को, जिसे उत्पादक-सचय के लिए काम मे लाया जा सकता है, कम करता है। अत्यधिक सैन्यीकृत अर्थव्यवस्था वाले देशों मे पूंजी-सचय और आर्थिक-विकास की दर कम हो रही है। पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों के दावे के विपरीत सैन्यकरण नागरिक-उत्पादन को हानि पहुंचाकर किया जाता है और इसका परिणाम जीवन-स्तरों मे ह्रास और दीर्घकालिक बेरोजगारी होता है।

शस्त्र-दौड़ अधिक ऊंचे सैनिक खर्च और इसके परिणामस्वरूप अधिक ऊंचे करों को जन्म देती है और ये कर उपभोक्ता क्रय-शक्ति मे कमी करते हैं। साम्राज्य-वादी देशों में विशाल सैनिक खर्च भारी बजट घाटा, राजकीय ऋणों मे वृद्धि और काग़ज़ी-मुद्रा के बढ़ते निस्सरण को जन्म देते हैं। इसका परिणाम होता है—अव-मूल्यन, अपूर्व मुद्रा-स्फीति और वास्तविक मजदूरी में कमी। मुद्रा-स्फीति की दशा मे मजदूरी की तुलना मे कीमतें अधिक तेजी से बढ़ती हैं और इसका अर्थ यह होता है कि राष्ट्रीय आय मे मजदूरो के भाग को कम करने की कीमत पर पूंजीपतियों के मुनाफे बढ़ते हैं। मुद्रा-स्फीति पूंजीपतियो के हित मे राष्ट्रीय आय के पुनर्वितरण और मेहनतकशो को लूटने का एक तरीका है। परिणामस्वरूप, सैनिक-खर्चों की वित्त-व्यवस्था कैसे भी की जाए, अंत मे उसका सारा भार मेहनतकशों के कंधो पर आता है। इसके साथ यह इजारेदारों को धनवान बनने मे भी सहायता देता है।

4. आर्थिक-संकट

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की अस्थिरता एक अवधि बाद बार-बार आने वाले अति-उत्पादन के संकटों—जो बढ़ी हुई उत्पादक-शक्तियों पर नियंत्रण करने में पूंजीवाद की असमर्थता एव पूंजीवादी सामाजिक-संरचना की अल्पकालीनता को बहुत तीव्रता से स्पष्ट करते हैं, के रूपों मे स्वयं को प्रकट करती है। इस संबंध मे लेनिन ने लिखा है—"संकट यह दिखलाता है कि यदि भूमि, कारखाना, मशीन आदि पर कुछ थोड़े से निजी स्वामियों का कब्जा नहीं हो जोकि जनगण की ग़रीबी से लाखों के मुनाफे निचोड़ते हैं, तो आधुनिक समाज समस्त मेहनतकशों की जीवन-दशाओं में सुधार करने के लिए अपार मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन कर सकता है।"[1]

पूंजीवाद के प्रमुख अंतर्विरोध—उत्पादन की सामाजिक प्रकृति तथा इसके परिणामों को पाने के निजी पूंजीवादी रूप के बीच अंतर्विरोध मे वृद्धि हो जाने से आम-संकट की अवस्था मे, इसके आर्थिक-चक्रों में परिवर्तन हो गया है। ये चक्र छोटे हो गये हैं, इसके परिणामस्वरूप संकट बार-बार व शीघ्र आने लगे हैं और

---

1 वी॰आई॰ लेनिन, 'संकट की शिक्षाएं'; संकलित रचनाएं, भाग 5, पृ॰ 92 (अंग्रेजी में)

अधिक गहरे व विनाशक हो गये हैं, तथा पूंजीवाद के आम-संकट से पहले की तुलना में अब सुधार के दौर में भी उत्पादन-वृद्धि कम सघन होती है।

दो महायुद्धों के बीच पूंजीवाद की आम-संकट की पहली अवस्था में पूंजीवादी विश्व में अति उत्पादन के तीन चक्रीय-आर्थिक-संकट आये—1919-20 में, 1929-33 में और 1937-38 में। पूंजीवाद के आम-संकट से पहले जहां दो संकटों के बीच सबसे लंबा अंतराल 12 वर्ष का था, आम-संकट की पहली अवस्था में यह घटकर 7-8 वर्ष हो गया।

पूंजीवाद के आम-संकट की पहली अवस्था में, आर्थिक-संकटों ने पूंजीवादी देशों की अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों को काफी प्रभावित किया और उनकी विनाशक शक्ति पहले के आर्थिक-संकटों से बहुत ज्यादा थी। सबसे गंभीर संकट, जिसका पूंजीवाद ने अभी तक अनुभव किया है, 1929-33 का संकट था। बाद में आने वाली मंदी के साथ मिलकर यह 5-7 वर्ष तक रहा और इसने उत्पादक-शक्तियों का अभूतपूर्व विनाश किया। उदाहरण के लिए अमरीका, ब्रिटेन, जर्मनी और फ्रांस में 202 धमन-भट्टियां तोड़ी गयीं। इसके साथ अमरीका में 104 लाख एकड़ में कपास नष्ट की गयी और 64 लाख सूअरों की हत्या की गयी।

दूसरा महायुद्ध शुरू होने के पहले के समय के समान युद्ध-बाद के वर्षों में भी पूंजीवादी देशों की अर्थव्यवस्था बार-बार आर्थिक-संकटों से प्रभावित हुई। युद्ध-बाद का पहला संकट 1948-49 में आया जिसने मुख्य रूप से अमरीका तथा कनाडा की अर्थव्यवस्थाओं को प्रभावित किया और इन देशों में उत्पादन क्रमशः 18.2 व 12.3 प्रतिशत कम हो गया। चूंकि युद्ध बाद के आरंभिक वर्षों में अमरीका व कनाडा पूंजीवादी विश्व के कुल औद्योगिक उत्पादों के आधे से अधिक भाग का उत्पादन करते थे, अतः उनके उत्पादन में कमी से समग्र पूंजीवादी विश्व का औद्योगिक उत्पादन भी प्रभावित हुआ।

बाद के वर्षों में विश्व-पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और अधिक अस्थिर हो गयी। 1957-58 के आर्थिक-संकट के समय आठ देशों—अमरीका, कनाडा, जापान, आस्ट्रेलिया, आस्ट्रिया, बेल्जियम, ब्रिटेन और फ्रांस में उत्पादन का सम्पूर्ण ह्रास हुआ और इसके बाद पूंजीवादी विश्व में सभी आर्थिक उथल-पुथल हुई।

1974-75 का विश्व-आर्थिक-संकट युद्ध बाद के पूंजीवादी पुनरुत्पादन में कुछ विशेष स्थान रखता है। इसने सभी विकसित पूंजीवादी देशों को प्रभावित किया और इसकी गहराई व तीव्रता सिर्फ 1930 के दशक की मंदी से तुलनीय थी। युद्ध-बाद की अवधि में उत्पन्न अति-विकसित राजकीय इजारेदारी अर्थव्यवस्था सारी उथल-पुथल से हिल गयी। 1975 के दूसरे अनुपात में जापान में 20.2, पश्चिम जर्मनी में 15.3, फ्रांस में 14.8, इटली में 13.5 और ब्रिटेन में 10.6 प्रतिशत उत्पादन का ह्रास हुआ। उत्पादन-कटौती और क्षमता से काफी कम उत्पादन के

परिणामस्वरूप बेरोजगारी में भारी वृद्धि हुई। अधिकृत आँकड़ों के अनुसार 1975 के मध्य में विकसित पूँजीवादी देशों में 150 लाख व्यक्ति पूरी तरह बेरोजगार थे। इस संख्या में वे अपूर्णरूप बेरोजगार शामिल नहीं हैं, जिन्होंने किसी प्रकार के काम पाने की सारी आशा खो दी है। बेरोजगारी ने विदेशी मजदूर, राष्ट्रीय अल्पसंख्यक तथा वृद्ध व नौजवानों पर विशेष रूप से कठोर प्रहार किया।

1974-75 के विश्व-आर्थिक-संकट और 1980 में शुरू हुए नये गंभीर संकट ने इसका और अधिक विश्वसनीय साक्ष्य प्रस्तुत किया कि पूँजीवादी सिद्धांत पूँजीवाद के अन्तर्गत आर्थिक-संकटों को समाप्त करने की आशा नहीं रख सकते। इस संकट ने विश्व-पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में निरंतर बढ़ती अस्थिरता का भी और अधिक विश्वसनीय प्रमाण प्रस्तुत किया है। सुधारवादियों तथा पूँजीवादी विचारकों द्वारा गढ़ा गया एक प्रमुख मिथक—यह कि वर्तमान पूँजीवाद संकटों का निवारण करने में समर्थ है—खंडित हो गया है। पूँजीवाद की अस्थिरता अधिक-से-अधिक प्रकट होती जा रही है।

5. बढ़ती हुई मुद्रा-स्फीति और तीव्र वर्ग-संघर्ष

मुद्रा-स्फीति, जो आर्थिक-विकास की बढ़ती अस्थिरता की एक बहुत विशिष्ट अभिव्यक्ति है, वर्तमान में पूँजीवाद की एक प्रमुख समस्या है। पहले मुद्रा-स्फीति मुख्य रूप से युद्ध और युद्ध-बाद की आर्थिक-अव्यवस्था में बहुत तेजी से बढ़ती थी, आज पूँजीवादी उत्पादन-चक्र की हर अवस्था में मुद्रा-स्फीति की दर अत्यधिक ऊँची है।

मुद्रा-स्फीति सामान्यत: बजट-घाटा से उत्पन्न होती है। जब पूँजीवादी राज्य कर, ऋण आदि के द्वारा अपने बढ़ते खर्चों को पूरा करने में असमर्थ होकर, विशेषत: युद्ध और आर्थिक उथल-पुथल के बाद, अत्यधिक मात्रा में कागजी-मुद्रा छापने लगता है, तब परिणामस्वरूप यह मुद्रा स्वर्ण, वस्तुएँ व विदेशी-मुद्राओं की तुलना में तेजी से कीमत खोने लगती है। उत्पादन में गिरावट के कारण, अर्थ-व्यवस्था की वास्तविक जरूरत से बहुत अधिक कागजी-मुद्रा से मुद्रा-वितरण की प्रणालियाँ अति-संतृप्त हो सकती हैं, जिसका अर्थ यह होता है अतिरिक्त बैंक-मुद्रा छापे बिना भी धन की कीमत कम होने लगती है। पूँजीवाद के आम-संकट और इसके अंतर्विरोधों की संपूर्ण-वृद्धि के समय, जब स्वर्ण को वितरण से हटा लिया जाता है और उधार धन स्वर्ण से परिवर्तनीय नहीं रह जाता है, मुद्रा-स्फीति साधारण और दीर्घकालिक हो जाती है।

पूँजीवाद के आम-संकट के समय मुद्रा-स्फीति को प्रोत्साहित करने वाले बहुत-से कारक सक्रिय हो जाते हैं। इनमें सबसे शक्तिशाली है सैन्यवाद, जो युद्ध के समय और युद्ध-बाद की आर्थिक दुर्व्यवस्था में ही नहीं, शांतिकाल में पूँजीवादी अर्थ-

व्यवस्था के सामान्य विकास के समय भी मुद्रा-स्फीति के तंत्र को प्रोत्साहित करता है। शस्त्र-दौड़ सैनिक-उद्देश्यों के लिए राष्ट्रीय आय के अनुत्पादक उपभोग को और सामाजिक-सम्पदा के एक भाग की प्रत्यक्ष हानि को बढ़ाती है। शस्त्र-दौड़ के कारण शस्त्र-उत्पादक क्षेत्रों में और सैनिक-सेवा में लगे व्यक्तियों के पास अधिक-से-अधिक धन जाने लगता है। इसका परिणाम होता है किसी प्रकार के अनुकूल वस्तु-समर्थन के बिना ही काग़ज़ी-मुद्रा की राशि में वृद्धि। उच्चतर सैनिक-व्यय पूँजीवादी देशों के बजट-घाटा और बढ़ते हुए राज्य-ऋणों का प्रमुख कारण है। कर और ऋणों के अतिरिक्त मुद्रा-स्फीति सैनिक-व्ययों के लिए वित्त-व्यवस्था का एक तरीक़ा है।

बढ़ती मुद्रा-स्फीति आधुनिक पूंजीवादी विश्व की विशेषता है जैसाकि निरंतर चढ़ती क़ीमतों और तेज़ी से दौड़ती मुद्रा-स्फीति (जिसके समय क़ीमतें तेज़ी से उत्तरोत्तर बढ़ती हैं) से स्पष्ट होता है। उत्पादन में गिरावट और बढ़ती बेरोज़गारी (जिसे अब गतिहीनता कहा जाता है) के साथ मुद्रा-स्फीति 1960 के दशक से पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की नयी परिघटना हो गयी है। 1974-75 के संकट के समय यह प्रवृत्ति विशेष रूप से स्पष्ट थी जबकि उत्पादन में ह्रास व बेरोज़गारी में वृद्धि के साथ कीमतों व मुद्रा-स्फीति में भी वृद्धि हुई थी। आज इजारेदारों की नीतियाँ ही, आर्थिक-संकट के दिनों में, क़ीमतों में वृद्धि के लिए प्रमुख रूप से ज़िम्मेदार हैं क्योंकि संकट के दिनों में भी वस्तुओं के मूल्यों को उच्च-स्तर पर बनाये रखने के लिए वे राज्य की सहायता-प्राप्त अनेक उपायों का प्रयोग करते हैं। इसके साथ आर्थिक-संकट को नियंत्रित करने के लिए पूंजीवादी राज्य द्वारा उठाये गये कुछ कदम भी उच्चतर क़ीमतों को प्रोत्साहित करते हैं।

मुद्रा-स्फीति का पूँजीवादी पुनरुत्पादन पर भारी प्रभाव होता है। एक तरफ़ यह कुछ हद तक उत्पादन की गति को तेज़ करती है लेकिन दूसरी तरफ़ आर्थिक-संकट को भी बढ़ावा देती है। मुद्रा-स्फीतिजन्य तेज़ी के समय निगम अतिरिक्त मुनाफ़ा कमाने व निवेश में वृद्धि करने के लिए अपने उत्पादों की क़ीमत बढ़ा देते हैं। इससे उत्पादन के साधनों के बाज़ार का विस्तार व उत्पादक-पूंजी का संचय होने लगता है, परिणामस्वरूप उत्पादन के साधनों तथा उपभोक्ता उपकरणों का अधिक उत्पादन होता है। फिर भी राज्य-इजारेदार पूँजीवाद के उपायों की व्यवस्था मेहनतकशों की क्रय-शक्ति बढ़ाने में सहायक नहीं होती। परिणामस्वरूप मुद्रा-स्फीति उत्पादक-पूंजी के संचय को सुविधापूर्ण बनाते और उत्पादन व अन्तिम उपभोग के बीच अन्तर को बढ़ाते हुए पूंजीवादी-पुनरुत्पादन के अंतर्विरोधों को तीक्ष्ण करती है। इस प्रकार लगातार जारी मुद्रा-स्फीति, आर्थिक-सामाजिक [illegible] को तीव्र करते हुए पूँजीवादी-पुनरुत्पादन की अस्थायी प्रेरक शक्ति की बजाय अवरोध बन जाती है।

मुद्रा-स्फीति का सारतत्व यह है कि इसमें मज़दूर-वर्ग और सारे मेहनतकशों

की क़ीमत पर प्रभावी शोषक-वर्ग के हित में राष्ट्रीय आय का अनुप्रेषण शामिल है। नाममात्र की मजदूरी की तुलना में क़ीमतें ज्यादा तेजी से बढ़ती हैं। वास्तविक मजदूरी में ह्रास के समानुपात में पूँजीवादी उत्पादन की लागत में ह्रास होता है, इससे मेहनतकशों के शोषण में वृद्धि होती है। मुद्रा-स्फीति शोषण का एक छुपा हुआ तरीका है। इसका प्रयोग एक पूँजीपति व्यक्ति नहीं, बल्कि राज्य-तंत्र की सहायता से पूँजीपति-वर्ग करता है। इसके साथ अपने लाभ के लिए पूँजीवादी राज्य, मुख्य रूप से मेहनतकशों को हानि पहुँचाते हुए मुद्रा-स्फीति के द्वारा अनेक वस्तुओं को वितरण से हटा लेता है। मुद्रा-स्फीति का भार पेंशन-पानेवालों को शामिल करते हुए सभी मेहनतकशों के कंधों पर आता है क्योंकि क़ीमतों में वृद्धि के बावजूद पेंशन या तो पुराने स्तर पर रुकी रहती है या कीमतों की तुलना में उतनी ज्यादा और उतनी तेजी से नहीं बढ़ती है।

सत्तर के दशक के बाद मुद्रा-स्फीति की दरें बहुत बढ़ गयी हैं और कीमतों में तीव्र वृद्धि एक स्थायी परिघटना बन गयी है। *1974-75 का आर्थिक संकट,* विशेष रूप से बाद की गहरी व दीर्घकालिक गतिहीनता की विशिष्टता लगभग सभी जरूरी वस्तुओं में जैसे खाद्य-पदार्थ व रोजमर्रा की सेवाओं की कीमतों में उच्चतर वृद्धि थी। उदाहरण के लिए 1979 में आवश्यक वस्तुओं की कीमत *अमरीका में 80, कनाडा में 90, ब्रिटेन में लगभग 200, फ्रांस में 100, इटली में* लगभग 200, जापान में 100 से अधिक और जर्मनी में 70 प्रतिशत अधिक थी।[1] नाममात्र की मजदूरी की तुलना में कीमतों में वृद्धि बहुत तेज थी और युद्ध के बाद के वर्षों में औद्योगिक रूप से विकसित देशों में मजदूर-वर्ग की क्रय-शक्ति में ह्रास हुआ। यू० एस० न्यूज एंड वर्ल्ड रिपोर्ट के अनुसार अमरीका में *1977-* 78 में ही उपभोक्ता वस्तुओं की खुदरा कीमतों में 60 प्रतिशत वृद्धि हुई। दूसरे शब्दों में *1977 में अमेरिकनों ने जिस मात्रा में वस्तुओं एवं सेवाओं के लिए 7*[illegible] डॉलर खर्च किये थे, उसी के लिए 1978 में उन्हें 111 डॉलर खर्च करने पड़े।[2]

मुद्रा-स्फीति पूँजीवादी देशों में लाखों मनुष्यों की आर्थिक स्थितियों को बिगाड़ती है और उनके भविष्य पर संदेह की छाया डालती है। मेहनतकश *पूँजीवादी राज्यों द्वारा किसी तरह के वेतन-नियंत्रण से जब उपभोक्ता वस्तुओं* की क़ीमत लगातार बढ़ रही हो तब 'मजदूरी-जाम' की कोशिशों से—खास तौर चिंतित होते हैं।

मुद्रा-स्फीति अब मुद्रा-संकट के, जो स्वयं को राष्ट्रीय मुद्रा के अवमूल्यन तथा *अधिकांश पूँजीवादी देशों द्वारा अनुभव किये जाने वाले व्यापार व भुगतान*

---

1. मुख्य आर्थिक संदर्शक, फरवरी, 1980।
2. 'यू० एस० न्यूज एंड वर्ल्ड रिपोर्ट', मार्च 13, 1978।

बिगड़ते संतुलन के रूप में प्रकट करता है, लगातार विकसित होने के कारण तीव्र हो रही है। पूंजीवादी सरकारें, मुख्य रूप से मेहनतकशों के मूलभूत हितों की कीमत पर अपने आंतरिक संसाधन व विदेशी वायदों तथा आयात व भुगतान के बीच मौद्रिक-संतुलन लाने की कोशिश कर रही हैं। मेहनतकशों के लिए इसका अर्थ है नयी कठिनाइयां क्योंकि इस नीति में मजदूरी पर रोक और उपभोग में कटौतियां शामिल होती हैं।

आर्थिक अस्थिरता के अलावा, पूंजीवाद के आम-संकट की वर्तमान अवस्था की विशेषता पूंजीवादी राजनैतिक-व्यवस्था में अभूतपूर्व अस्थिरता भी है। पूंजीवादी देशों में सरकारों के बार-बार परिवर्तन साधारण बात है। संसदीय बहुमत, जिस पर शासकीय विशिष्ट वर्ग नियमतः विश्वास करता है, साधारणतः महत्वहीन और अविश्वसनीय हो गया है।

आश्चर्य की बात नहीं है कि आधुनिक पूंजीवादी राजनीति शास्त्री पूंजीवादी राजनैतिक-व्यवस्था में लोक-प्रचलित अविश्वास को दूर करने की आवश्यकता का प्रायः बढ़ते रूप में उल्लेख करते हैं। जुलाई, 1979 में तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने अमरीका की स्थिति के बारे में यह कहा था—"यह विश्वास का संकट है। यह ऐसा संकट है जो हमारी राष्ट्रीय इच्छा-शक्ति के प्राण-तत्व, ठीक हृदय और आत्मा पर प्रहार करता है ''और अमरीका की राजनीतिक-सामाजिक बुनावट को नष्ट करने की धमकी दे रहा है।"[1]

बिगड़ती हुई जीवन-दशाएँ और मुद्रा-स्फीति व आर्थिक संकट के सारे भार को मेहनतकशों के कंधों पर डालने की पूंजीवादी इजारेदारों की इच्छा ने पूंजीवादी विश्व में मेहनतकशों के मजबूत प्रतिरोध को बढ़ाया है। आधुनिक पूंजीवादी समाज के आर्थिक-सामाजिक मुद्दों का सामना करने में पूंजीवादी देशों की सरकारों की असमर्थता ने वर्गीय अंतर्विरोधों को तीव्र कर दिया है।

हड़तालें मेहनतकशों के असंतोष का एक प्रमुख संदर्शक हैं। पृष्ठ 77 पर दी गयी सारणी उनकी वृद्धि को स्पष्ट करती है।

1970 के दशक में हड़तालों के प्रमुख लक्षण, उनका बेहतर संगठन और व्यापक चरित्र थे। मेहनतकशों द्वारा अधिक-से-अधिक कार्यवाहियाँ की गयीं, जिनमें एक उद्यम के ढाँचे से आगे बढ़कर समस्त उद्योगों को घेरने वाली आर्थिक-माँगें शामिल थीं और वे राजनीतिक कार्यवाहियों के रूप में विकसित हो गयीं। शोषण के विरुद्ध प्रतिवाद, इजारेदारी आधिपत्य के खिलाफ़ तथा आधारभूत सामाजिक-आर्थिक सुधारों के लिए संघर्ष का एक संघटक हिस्सा हो गया। 1970 के दशक में लंबी हड़तालें हुईं और उनमें समाज के विभिन्न क्षेत्र व्यापक रूप में

---

1. न्यूजवीक, जुलाई 23, 1979, पृष्ठ 6।

सारणी-3

प्रमुख पूंजीवादी देशों में हड़तालें

वर्ष	हड़तालों की संख्या	हड़तालियों की संख्या	हड़ताल के मानव-दिनों की संख्या
1970	21,456	12,788,000	110,570,000
1971	24,585	15,974,000	93,847,000
1972	21,588	14,138,000	87,193,000
1973	25,870	17,702,000	74,204,000
1974	29,051	20,106,000	106,233,000
1975	23,518	22,988,000	87,286,000
1976	23,193	29,420,000	88,960,000
1977	23,479	14,148,000	68,705,000
1978	33,840	25,254,000	99,262,000

स्रोत—श्रम-आँकड़ों की वार्षिकी—1978, संयुक्त राष्ट्रसंघ 1979

शामिल हुए। मजदूर-वर्ग की शक्ति तथा प्रतिष्ठा बढ़ी, साथ ही मेहनतकशों के हितों तथा वास्तविक राष्ट्रीय हितों के लिए संघर्ष के हरावल दस्ते के रूप में उसकी भूमिका भी बढ़ी।

हड़ताली कार्यवाहियों की निरन्तरता एवं बढ़ता हुआ व्यापक चरित्र, मेहनतकशों की अधिक बड़ी एकता, संघर्ष के रूपों की विविधता और राजनैतिक दिशा-वाली नयी माँगों का उठाया जाना—1970 के दशक में हड़ताली-आन्दोलन के ये महत्त्वपूर्ण घटक थे।

हड़तालियों ने वेतन में कटौती के बिना काम के कम घंटों, पूरी मजदूरी के बराबर बेरोजगारी भत्तो, प्रबन्ध में मजदूरों की भागीदारी आदि की माँग की। शस्त्र-निर्माण करने वाले उद्योगों को नागरिक उत्पादन में बदलवाने के लिए मेहनतकशों का आन्दोलन बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह सिर्फ सार्थक रूप में बढ़े हुए नये काम ही उत्पन्न नहीं करेगा बल्कि शस्त्र-दौड़ पर भारी मात्रा में खर्च किये जाने वाले संसाधनों में कुछ हद तक कटौती करेगा ताकि उनका उपयोग जनगण की आवश्यक जरूरतों को पूरा करने में किया जा सके।

अध्याय : 5

राज्य-इजारेदार पूंजीवाद का विकास

राज्य-इजारेदार पूंजीवाद का जन्म और विकास, पूंजीवाद के आम-संकट तथा पूंजीवादी विश्व की राजनीति; अर्थनीति एवं सामाजिक-संरचना में बहुत व्यापक परिवर्तनों से अभिन्न जुड़े हुए हैं। राज्य-इजारेदार पूंजीवाद स्वयं को, नयी विश्व-स्थिति—दो व्यवस्थाओं के बीच वर्तमान संघर्ष की दशाओं तथा वैज्ञानिक-प्रौद्योगिक क्रांति के अनुकूल ढाल रहा है।

1. इजारेदार पूंजीवाद का राज्य-इजारेदार पूंजीवाद के रूप में विकास

पूंजीवाद के आंतरिक नियमों के परिणाम-स्वरूप इजारेदार पूंजीवाद ने पहले महायुद्ध के समय राज्य-इजारेदार पूंजीवाद के रूप में, जो इसकी अंतिम अवस्था—साम्राज्यवादी अवस्था—की विशेषता है, विकसित होना शुरू किया।

साम्राज्यवाद के अपने अध्ययन में लेनिन ने यह स्थापित किया कि पूंजीवाद अहस्तक्षेपकारी पूंजीवाद से इजारेदार-पूंजीवाद की ओर तथा इजारेदार पूंजीवाद से राज्य-इजारेदार पूंजीवाद की ओर बढ़ गया है। इजारेदार पूंजीवाद तथा राज्य की संयुक्त शक्ति राज्य-इजारेदार पूंजीवाद की विशेषता है।

पूंजीवादी राज्य अर्थनीति या अर्थव्यवस्था से कभी विमुख नहीं रहा है, यद्यपि पूंजीवादी विकास की विभिन्न अवस्थाओं में, अर्थव्यवस्था पर इसके प्रभाव की प्रकृति और क्षेत्र एक समान नहीं रहे हैं। इजारेदार पूंजीवाद से पहले की अवधि में राज्य मौद्रिक-चलन, उधार और ऋणों की व्यवस्था के द्वारा अर्थव्यवस्था को प्रभावित करता था। राज्य ने पूंजीपतियों को भू-क्षेत्र और आर्थिक सहायता दी तथा सैनिक भवन, शस्त्रागार, रेल एवं संचार-सुविधाओं के निर्माण के लिए प्रायः वित्त-प्रबन्ध किया। फिर भी, तब अर्थव्यवस्था में राज्य का हस्तक्षेप बहुत कम

ता था और अर्थव्यवस्था के वैयक्तिक-क्षेत्रों को ही प्रभावित करता था। मुक्त प्रतियोगिता तथा पूंजीवादी उत्पादन की बिखरी व असंबद्ध प्रकृति, पूंजीवादी-व्यवस्था के कार्य करने की तत्कालीन दशाओं को बनाये रखते हुए, राज्य की आर्थिक भूमिका को सीमित करती थी। पूंजीपति राज्य से पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता देने की आशा रखते थे, जिसे (उनके शब्दों मे) 'रात का प्रहरी' बनने तक सीमित रहना चाहिए।

साम्राज्यवाद के युग मे और विशेष रूप से पूंजीवाद के आम-संकट के समय राज्य का हस्तक्षेप संपूर्ण अर्थव्यवस्था मे फैल गया है तथा व्यवस्थित गहरा हो गया है। आधुनिक राज्य अनेक आर्थिक कार्य करता है और स्वयं एक शक्तिशाली आर्थिक ताक़त हो गया है। यह पूंजीवादी-पुनरुत्थान की प्रक्रिया मे प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करता है तथा समस्त उद्योगो मे उत्पादन के लिए प्रत्यक्ष रूप मे उत्तरदायी है। अर्थव्यवस्था मे इसका स्थान बड़े मालिक, उपभोक्ता, ऋणदाता व कर्जदार का है।

साम्राज्यवाद के युग मे इजारेदार पूंजीपति-वर्ग सारे समाज मे प्रबलशक्ति बन गया है। पूंजीपति-वर्ग के आंतरिक प्रतियोगी संघर्ष मे राज्य की तटस्थता राज्यतंत्र मे शासकीय विशिष्ट वर्ग के आधिपत्यवाद मे बदल गयी है जो बड़े वित्तीय पूंजीपतियों के हितों की उत्साह के साथ रक्षा करता है। इस प्रकार राज्य इजारेदार पूंजीपति-वर्ग के कारोबार की व्यवस्था करने वाली समिति बन गया है।

पूंजीवादी-इजारेदारियाँ और राज्यतंत्र मुख्य रूप से निजी संघो के द्वारा मिलकर एक व निकटता से अंतर्ग्रथित हो गये हैं। इन संघों में सरकारी मंत्रियों सहित उच्च-अधिकारी व्यापारिक दुनिया से अपने सम्बन्धो को मजबूत करते हैं और निगमों के बोर्डों में लाभ के पद प्राप्त करते हैं। इजारेदार ऐसे उच्च असैनिक अधिकारियों को, जो राज्य-तन्त्र के रहस्यों से भली प्रकार परिचित होते हैं और असरदार तरीक़े से उसे प्रभावित करने मे समर्थ होते हैं, शीघ्रता से नौकरी देते हैं। इससे भी आगे इजारेदार, जो राज्यतंत्र की बढ़ी हुई आर्थिक-राजनैतिक शक्ति से अच्छी तरह परिचित हैं, महत्वपूर्ण सरकारी पदों पर कब्जा करने के लिए प्रत्यक्ष रूप से अथवा अपने सेवकों के माध्यम से राज्य-तंत्र के जाल मे घुस आते हैं। राज्य-तन्त्र को प्रभावित करने के लिए निगम विविध प्रकार के व्यापारिक-समूहों, जन-संगठनो और पूंजीवादी राजनीतिक दलों के अधिकारियो का प्रयोग करते हैं। निजी संघों के अलावा राज्य के आर्थिक क्रियाकलाप भी राज्य व इजारेदारों के परस्पर विलयन के महत्त्वपूर्ण रूप हैं।

राज्य-इजारेदार पूंजीवाद का सारतत्त्व यह है कि पूंजीवादी राज्य की शक्ति इजारेदारों के साथ एक तंत्र मे संयुक्त हो जाती है। यह तन्त्र इजारेदार पूंजी के

लिए अधिकतम संभव मुनाफ़ा निश्चित करने के लिए काम करता है और साथ ही जनवादी व मज़दूर आन्दोलनों तथा राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के दमन के लिए अवसर प्रदान करता है। यह तंत्र भूतपूर्व उपनिवेशों व पराधीन देशों के समस्त जनगणों को अपने राजनैतिक-आर्थिक हितों के अधीन करने के लिए और समाजवादी विश्व के विरुद्ध लड़ाई में इजारेदारों के पक्ष में भी काम करता है। आज राज्य-इजारेदार पूंजीवाद का प्रमुख उद्देश्य पूंजीवादी-व्यवस्था की रक्षा और उसे मज़बूत करने के लिए संघर्ष करना है।

राज्य-इजारेदार पूंजीवाद की आर्थिक उत्पत्ति पूंजी के उच्चस्तरीय संकेन्द्रण व इजारीकरण और अपने अत्यन्त अन्तर्विरोधी व विरोधमूलक रूप में पूंजीवादी-उत्पादन के समाजीकरण पर आधारित है। उत्पादन के उच्चस्तरीय संकेन्द्रण और जमापूंजी के हिस्सों में वृद्धि होने के कारण विशाल मात्रा में निवेश की ज़रूरत होती है। कुछ उद्योगों में विस्तारित उत्पादन के लिए वैयक्तिक पूंजीपतियों के ही नहीं, निगमों के संसाधन भी अपर्याप्त हो जाते हैं। तब राज्य पूंजी के संकेन्द्रण को प्रोत्साहित करने और शोध व विकास की परियोजनाओं के लिए (ख़ास तौर से उन क्षेत्रों के लिए जहाँ परिणाम मंद गति से मिलते हैं तथा विशाल संसाधनों की ज़रूरत होती है) वित्त-निवेश करने में उनकी सहायता करता है।

पूंजीवादी उत्पादन के इजारीकरण व समाजीकरण से वैषम्य में वृद्धि होती है। इजारेदार अर्थव्यवस्था के अतिलाभकारी क्षेत्रों पर कब्ज़ा कर लेते हैं और फिर आधुनिक वैज्ञानिक व प्रौद्योगिक आधारों पर उनका तेज़ी से विस्तार करते हैं। वे क्षेत्र, जिनमें कम मुनाफ़ा होता है, विकास में पीछे रह जाते हैं। किन्तु सामाजिक पूंजी के पुनरुत्पादन के लिए अर्थव्यवस्था के सभी घटकों में एक निश्चित सम्बन्ध की ज़रूरत होती है। अलाभप्रद क्षेत्रों अथवा जो क्षेत्र विशेष लाभप्रद नहीं हैं उनमें प्रवेश करके तथा अलाभकारी परियोजनाओं में वित्त-निवेश करके राज्य देश के आर्थिक ढाँचे में निश्चित परिवर्तन करता है और अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों को प्रोत्साहित करता है।

इजारेदारियों की सर्वोच्चता उत्पादन व उपभोग के बीच अंतर्विरोध को बढ़ाती है और माल-उत्पादों की समस्या को गंभीर बना देती है। वित्तीय अल्पतंत्र राजकीय माँग, विशेष रूप से सैनिक-उपयोग में काम आने वाले उत्पादों की माँग को बढ़ाकर बाज़ार की सामर्थ्य में वृद्धि करने का तथा इन अंतर्विरोधियों का समाधान करने का प्रयत्न करता है।

उत्पादन का समाजीकरण निजी पूंजीवादी स्वामित्व की सीमाओं से आगे बढ़ गया है और पूंजीवादी-सम्बन्धों को तोड़ने की ज़रूरत को निर्देशित कर रहा है। लेकिन इजारेदार पूंजी विस्तारित उत्पादन-शक्तियों पर मज़बूत अधिकार पाने और निजी पूंजीवादी स्वामित्व को बनाये रखने के लिए राज्यतंत्र का उपयोग

करती है।

इजारेदार पूंजीवाद राज्य-इजारेदार पूंजीवाद मे क्यों विकसित होता है, इसके कारण केवल साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था मे ही नही है, बल्कि राजनैतिक अस्थिरता तथा वर्गीय व सामाजिक अंतर्विरोधो की वृद्धि मे भी है। राज्य पूंजी व श्रम के बीच सम्बन्धो मे हस्तक्षेप करता है और इजारेदारों को मजदूर-वर्ग व कुल मिलाकर मेहनतकशों पर बढ़ा-चढ़ाकर आर्थिक तथा राजनैतिक दबाव डालने की छूट देने के लिए आर्थिक एवं सामाजिक कानूनो का प्रयोग करता है।

इजारेदार पूंजीपति-वर्ग उपनिवेशी व पराधीन देशो मे अपने हितो की रक्षा के लिए राज्य की शक्ति का उपयोग करता है और राज्य की शक्ति के माध्यम से विकासशील देशो में अपनी स्थिति को मजबूत बनाने की कोशिश करता है।

इस प्रकार पूंजी व उत्पादन के सकेन्द्रण मे भीमकाय वृद्धि, इजारेदारो की बढ़ती हुई शक्ति और साम्राज्यवाद के आर्थिक-राजनैतिक अंतर्विरोधो का तीव्र रूप में गभीर होना—ये सब राज्य-इजारेदार पूंजीवाद के विकास के घटक हैं। इनके साथ अंतर्राष्ट्रीय व आतरिक कारकों तथा साम्राज्यवाद की राजनीति व अर्थनीतियो मे नयी परिघटना के कारण से राज्य-इजारेदार पूंजीवाद, विशेष रूप से पूंजीवाद के आम-संकट की तीसरी अवस्था मे आगे बढा।

राज्य-इजारेदार पूंजीवाद का बढता हुआ तीव्र विकास उत्पादक-शक्तियो के और अधिक विकसित हो जाने का प्रत्यक्ष परिणाम है। केन्द्रीकृत समन्वय और शोध व विकास के लिए विराट संसाधनों की जरूरत होती है, इस कारण इजारेदार पूंजी राज्य की सहायता का आश्रय लेती है। वैज्ञानिक व प्रौद्योगिक क्रांति ने भी अर्थव्यवस्था के सकेन्द्रण व इजारीकरण के मजबूत करने मे सहायता दी है। उत्पादन का समाजीकरण ऐसे स्तर पर पहुँच गया है जब राज्य आर्थिक-जीवन के सभी पक्षों में प्रत्यक्ष भाग लेना जरूरी समझने लगा है। राज्य के इस प्रकार शामिल हुए बिना *आधुनिक उत्पादक-शक्तियाँ अधिक समय काम नही कर सकती।*

दूसरा महत्वपूर्ण कारक बढता हुआ वर्ग-युद्ध है जो साम्राज्यवादियो को चाल चलने तथा मजदूर वर्ग व समग्र रूप से मेहनतकशो को कुछ छूट देने के लिए विवश करता है। मेहनतकशों पर दबाव डालने के लिए पूंजीपति-वर्ग राज्य के विधानों का प्रयोग करने की कोशिश करता है और अर्थव्यवस्था के राजकीय नियन्त्रण के द्वारा वर्ग-विरोधों पर परदा डालने तथा अराजकता, सकट व बेरोजगारी जैसी सामाजिक रूप से खतरनाक परिघटनाओं को रोकने की कोशिश करता है।

साम्राज्यवाद की उपनिवेशी व्यवस्था का अंत, इजारेदार पूंजीवाद के राज्य-इजारेदार पूंजीवाद के रूप में विकास को तीव्र करने वाला एक महत्वपूर्ण कारक है। वित्तीय अल्पतंत्र विकासशील देशों में अपनी आर्थिक सर्वोच्चता को बनाये रखने और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन को दबाने के लिए राज्य-तंत्र का बढता हुआ

व्यापक उपयोग कर रहा है। अमरीका, ब्रिटेन तथा अन्य साम्राज्यवादी देश औद्योगिक रूप से अविकसित अनेक देशों में अभी भी अपने सैनिक व सैनिक अड्डे बनाये हुए हैं और 'आर्थिक-सहायता' के बहाने से उनकी अर्थव्यवस्थाओं को प्रभावित करते हैं।

विश्व-समाजवादी व्यवस्था के उदय ने साम्राज्यवाद की स्थिति को बहुत कमज़ोर कर दिया है। राज्य-तन्त्र से सहायता प्राप्त करके वित्तीय अल्पतंत्र कुछ देशों के पूंजीवाद से अलग हो जाने से साम्राज्यवादी विश्व पर पड़े नकारात्मक परिणामों को निष्प्रभावित करने, समाजवाद के मुक़ाबले आर्थिक प्रतियोगिता में डटे रहने, उत्पादन-दरों को तेज़ करने और कुल मिलाकर पूंजीवादी व्यवस्था को बचाये रखने के लिए अपनी सारी क्षमता को सामबंद करने की कोशिश कर रहा है।

2. राज्य-इजारेदार पूंजीवाद के प्रमुख रूप

राज्य-इजारेदार पूंजीवाद के सुस्पष्ट लक्षण हैं जो प्रत्येक देश-विशेष की ऐतिहासिक रूप से विकसित आंतरिक व बाह्य-दशाओं पर निर्भर होते हैं। लेकिन अब हमें अधिकांश देशों में अंतर्निहित प्रमुख रूपों की विवेचना करनी चाहिए।

राज्य-स्वामित्व और राज्य-व्यापार में वृद्धि—पूंजीवादी-व्यवस्था ढांचे के भीतर राज्य-स्वामित्व का विकास और उसके सुदृढ़ीकरण के विविध रूप राज्य-इजारेदार पूंजीवाद के विकास की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। किन्तु राज्य-स्वामित्व का क्षेत्र समान नहीं है तथा आन्तरिक व बाहरी कारकों पर निर्भर होता है। फिर भी, सामान्य रूप में मुख्यतः औद्योगिक, परिवहन, बैंकिंग तथा अन्य उद्यमों के राज्य-स्वामित्व के रूप में प्रकट होते हुए, पूंजीवाद के आम-संकट के दौरान राज्य-स्वामित्व बढ़ा है। ब्रिटेन में कोयला उद्योग, रेल, गैस-व्यवस्था और ऊर्जा-केन्द्र राज्य के अधीन हैं। फ्रांस में कुल उत्पादन के लगभग 15 प्रतिशत का उत्पादन सरकारी क्षेत्र करता है—उड्डयन उद्योग का 80 प्रतिशत, लगभग सारा कोयला उद्योग और ऊर्जा उत्पादन राज्य के हाथों में केन्द्रित है। पश्चिमी जर्मनी में लगभग 25 प्रतिशत शेयर-पूंजी राज्य के पास है।

पूंजीवाद के अन्तर्गत राज्य-स्वामित्व अपनी निजी पूंजीवादी-प्रकृति अथवा अपनी सामाजिक आर्थिक प्रकृति को नहीं बदलता है और यह किसी भी तरह लोक-स्वामित्व नहीं है। पूंजीवाद के अंतर्गत राज्य-स्वामित्व का चरित्र पूंजीवादी राज्य के वर्गीय स्वरूप के द्वारा निर्धारित होता है। यह वास्तव में पूंजीवादी सम्पत्ति होता है क्योंकि यह राज्य-शक्ति का प्रयोग करने वाले पूंजीपति वर्ग के अधीन होता है और उसकी श्रम के शोषण के माध्यम के रूप में काम आता है।

राज्य-इजारेदार संपत्ति का निर्माण उत्पादन के साधनों के समाजीकरण के

द्वारा होता है। इसका निर्माण राज्य द्वारा प्रदत्त धन से नये उद्योगों की स्थापना, कुछ उद्यमो अथवा संपूर्ण उद्योग के राष्ट्रीयकरण और इसके साथ राज्य द्वारा पूँजीवादी स्वामित्व की कंपनियों के शेयर खरीदने से होता है।

राज्य-बजट मे वित्त-निवेश के माध्यम से बने उत्पादन के साधनो के स्वामित्व का बढ़ा हुआ परिमाप इजारेदारी हितों का खडन नही करता है। इसके विपरीत राज्य-संपत्ति इजारेदारों को लाभ पहुँचाने के लिए राष्ट्रीय आय एवं अतिरिक्त मूल्य के पुनर्वितरण के एक हथियार के रूप मे प्रमुख भूमिका अदा करती है। जैसा पहले बताया गया है, राज्य प्रमुख रूप से उन क्षेत्रो मे निवेश करता है जिन्हें विशेष रूप से बड़े निवेश की जरूरत होती है और जिनसे बहुत निकट भविष्य मे आय की संभावना नही होती है। इससे भी आगे, जब शोध व विकास की बेहद महँगी परियोजनाएँ एक बार पूरी हो जाती हैं और जमा पूंजी के रूप मे लगाये गये आरंभिक निवेश की क्षति-पूर्ति हो जाती है तो अनेक मामलो मे, राजकीय उद्यम बहुत अनुकूल शर्तों पर इजारेदार पूँजीपतियो को लौटा दिये जाते हैं अथवा ठेके पर दे दिये जाते हैं। परमाणु एव अतरिक्ष उद्योग और आज के ऊर्जा उद्योग के विकास का प्रतिमान यही है।

सरकारी निकायों द्वारा निजी निगमों के शेयरो की खरीद के द्वारा भी राज्य संपत्ति प्राप्त करता है। इसके समानातर दूसरी प्रवृत्ति भी है—राजकीय निगमों द्वारा निजी उद्यमों को अपने शेयरों की बिक्री। राज्य एव इजारेदारो के संयुक्त उद्यम भी दिखायी देते हैं और इससे यह तथ्य स्पष्टता से प्रमाणित होता है कि उत्पादन के साधनो का राज्य स्वामित्व अनिवार्यतः पूँजीवादी स्वामित्व है।

प्रायः मालिकों की क्षति-पूर्ति करते हुए निजी उद्यमो का राष्ट्रीयकरण एक दूसरा तरीक़ा है जिससे राज्य संपत्ति उत्पन्न होती है। आधुनिक सुधारवाद के वैचारिक समर्थक यह समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं कि पूँजीवादी उत्पादन संबधों के ढाँचे के भीतर राष्ट्रीयकरण समाजवाद की ओर बढने के लिए तथाकथित रूप मे राह खोलता है। लेकिन वास्तव में, कुछ उद्यमों अथवा समस्त उद्योग का भी पूँजीवादी राष्ट्रीयकरण पूँजीवादी-व्यवस्था के चरित्र को नही बदलता है। उद्यम राज्य-पूँजीवादी हो जाते हैं और उनका सामाजिक सारतत्व रत्ती भर नहीं बदलता क्योकि विरोधमूलक वर्ग-संबंध और पूँजीवादी-शोषण समाज में जारी रहता है।

पूँजीवादी राष्ट्रीयकरण प्रायः इजारेदारों के तात्कालिक अथवा दीर्घकालिक हितों से जुड़ी आवश्यकताओ का परिणाम होता है। उदाहरण के लिए प्रौद्योगिकी पिछड़ेपन के कारण दिवालियापन का सामना करने वाले और प्रतियोगिता मे असमर्थ हो जाने वाले उद्यमों का राष्ट्रीयकरण किया जा सकता है। राष्ट्रीयकरण बढते हुए सामाजिक अंतर्विरोध, युद्ध या आर्थिक-संकट के समय मजदूर-वर्ग के दबाव का परिणाम भी हो सकता है। लेकिन अंतिम रूप से पूँजीवादी—राष्ट्रीय-

करण की मूलभूत प्रेरक शक्ति इजारेदारी—आधिपत्य की व्यवस्था को मजबूत करना, निजी संपत्ति की वित्तीय भारों व दिवालियापन से रक्षा करना और कुल मिलाकर पूंजीवादी-व्यवस्था की स्थिति को दृढ़ करना है। दूसरे महायुद्ध के बाद ब्रिटेन, फ्रांस, इटली तथा कुछ अन्य पश्चिमी यूरोप के देशों में राष्ट्रीयकरण इन्हीं उद्देश्यों की ओर निर्दिष्ट था।

ऐसा होने पर भी, इजारेदार पूंजीपति वर्ग भीतर से सरकारी-क्षेत्र की वृद्धि को सीमित करने की कोशिश कर रहा है। इजारेदार व्यापक राष्ट्रीयकरण से भयभीत है (जैसे कि उन्हें यह भय है कि अर्थव्यवस्था के प्रमुख क्षेत्रों में अन्य तरीकों से बनी हुई राज्य-संपत्ति के साथ प्रतियोगिता में प्रबल सिद्ध हो सकती है) *क्योंकि उत्पादन के साधनों का व्यापक समाजीकरण पूंजीपति वर्ग की आवश्यकता* को सिद्ध करता है। इसलिए पूंजीवाद के अंतर्गत राज्य-सपत्ति, चाहे वह किसी भी प्रकार उत्पन्न हो, स्वामित्व का सामान्य प्रचलित रूप नहीं बन पायेगी।

इस मान्यता का कि इजारेदारों को समृद्ध बनाने के लिए राष्ट्रीयकृत क्षेत्र का व्यापक रूप में प्रयोग किया जाता है, यह अर्थ नहीं है सर्वहारा वर्ग को राष्ट्रीयकरण के लिए आंदोलन नहीं करना चाहिए। पूंजीवादी समाजीकरण में द्वन्द्वात्मक अंतर्विरोध निहित हैं। एक तरफ इजारेदार पूंजीपति वर्ग अपनी सर्वोच्चता को मजबूत करने व मेहनतकशों पर नियंत्रण रखने के लिए राष्ट्रीयकरण का उपयोग करता है, दूसरी तरफ राष्ट्रीयकरण वास्तव में उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व के सिद्धांत को हानि पहुंचाता है और यह दिखलाता है कि बिना पूंजीपतियों के भी सामाजिक विकास संभव है। इसी कारण, पूंजीवादी देशों में कम्युनिस्ट तथा मजदूर दल जनवादी राष्ट्रीयकरण (मालिकों को हरजाना दिये बिना और मजदूरों के अनिवार्य प्रतिनिधित्व के साथ प्रबंध का राजकीय निगमों को हस्तान्तरण) के नारे को आगे बढ़ाते हैं। इस तरह के राष्ट्रीयकरण की मांग भी समाजवादी नहीं है (यद्यपि प्रगतिशीलता की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है) क्योंकि इससे पूंजीवादी व्यवस्था की प्रकृति नहीं बदलती है।

पूंजीवादी राज्य द्वारा राष्ट्रीय आय के भाग का वितरण और पुनर्वितरण—राज्य-इजारेदार पूंजीवाद के विकास के साथ पूंजीवादी राज्य राष्ट्रीय आय का बढ़ा हुआ हिस्सा पाने लगता है। राष्ट्रीय आय के इस बढ़े हुए हिस्सा का, बड़े व्यापार को लाभ पहुंचाने के लिए राज्य द्वारा पुनर्वितरण पूंजीवादी पुनरुत्पादन का एक विशेष लक्षण और इजारेदारों को समृद्ध करने का एक प्रमुख तरीका बन गया है। राष्ट्रीय-आय के पुनर्वितरण के तंत्र में सबसे प्रमुख तत्त्व राज्य बजट है जो विभिन्न स्रोतों से *(प्रमुख रूप से करारोपण के द्वारा) मौद्रिक-संसाधनों* का संचय करता है।

राज्य-बजट के माध्यम से राष्ट्रीय आय के पुनर्वितरण के लिए आर्थिक स्रोत-

लको अर्थात् इजारेदारों को विभिन्न प्रकार के अनुदानों एवं आर्थिक सहायता का भी व्यापक प्रयोग किया जाता है। प्रत्यक्ष सहायता के साथ-साथ इजारेदार राज्य-बजट से अप्रत्यक्षत: भी—मुख्य रूप से नये उपकरण पर कर-रियायत, क्षीण हुए खनिज-ससाधनों पर वरीयता क्रम के आधार पर करारोपण, ब्याजरहित उधार, उत्पादों की आपूर्ति से पहले अग्रिम भुगतान आदि के रूप में धनराशि प्राप्त करते हैं। राज्य-शोध एवं विकास परियोजनाओं के लिए भी बड़े स्तर पर वित्त-व्यवस्था करता है। राज्य निजी निगमों द्वारा वैज्ञानिक शोध, जिसमें सैन्य-शोध भी शामिल है, में भी भारी मात्रा में निवेश करता है। फलस्वरूप इजारेदारियाँ नयी तकनीक, निपुणता और वैज्ञानिक उपलब्धियों का अधिकांश मूल्य चुकाने के लिए लोकनिधि के प्रयोग का अवसर अपने लिए प्राप्त कर सकती हैं।

अधिकांश राष्ट्रीय-आय के व्यय की व्यवस्था करते हुए पूँजीवादी देशों की सरकारें राज्य-बजट द्वारा वित्तीय ससाधनों का व्यापक पुनर्वितरण करती हैं। मजदूर तथा छोटे स्तर के वस्तु-निर्माता जो कुछ पैदा करते हैं और जो कर के रूप में राज्य-बजट में आता है, उसका एक बड़ा भाग इजारेदारियों के लिए अतिरिक्त लाभ का स्रोत बन जाता है।

अर्थव्यवस्था का सैन्यीकरण—युद्ध के बाद आर्थिक सैनिक-व्यय बहुत से पूँजीवादी देशों की विशेषता रही है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का बढ़ता हुआ सैन्यीकरण पूँजीवाद के आम-संकट के गहरा होने का सदर्शक है। यह विश्व-समाजवादी व्यवस्था के विकास, साम्राज्यवाद की उपनिवेशी-व्यवस्था का पतन और विश्व के क्रांतिकारी व राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों में आए उभार के परिणामस्वरूप साम्राज्यवादी-आधिपत्य क्षेत्र के सिकुड़ने की प्रतिक्रिया है। पूँजीवादी देशों में अर्थव्यवस्था के सैन्यीकरण को तेज करने के लिए, राजनैतिक स्थितियों के निर्माण को प्रतिक्रियावादी केन्द्रों द्वारा पालित-पोषित 'शीत-युद्ध' के वातावरण ने प्रोत्साहित किया।

अर्थव्यवस्था का सैन्यीकरण राज्य-इजारेदार पूँजीवाद की व्यवस्था का और आगे विकास करता है। प्रमुख साम्राज्यवादी देशों में इस व्यवस्था के नाभिक केन्द्र सैन्य-औद्योगिक-समूह हैं जिनमें सैनिक-उत्पादों का निर्माण करने वाली इजारेदारियाँ, सैन्य-शक्ति के प्रतिनिधि, राज्य-तंत्र के उच्च-अधिकारी, सैनिक-शोध व विकास से जुड़े कुछ बुद्धिजीवी, मजदूर-संघों के कुछ नेता आदि शामिल हैं।

अर्थव्यवस्था के सैन्यीकरण का उद्योग पर गहरा तथा प्रतिकूल प्रभाव होता है। सैनिक क्षेत्र का विकास अर्थनीतियों द्वारा नहीं, सैनिक एवं राजनैतिक कारणों से निर्धारित होता है। यह विकास अनिवार्यतः असमान व अनियमित होता है और पुनरुत्पादन की प्रक्रिया को अस्थिर करता है। आम तौर से उन साम्राज्यवादी देशों में आर्थिक-विकास की दर न्यून होती है, सैनिक व्यय जिनके सकल

राष्ट्रीय उत्पाद के बड़े हिस्से का उपयोग कर लेता है।

सैन्यीकरण का प्रमुख आर्थिक उद्देश्य इजारेदार पूँजी के लिए भारी मुनाफ़ा निश्चित करना है। सैन्य-औद्योगिक निगमों द्वारा प्राप्त किये मुनाफ़े की औसत-दर, अन्य सभी निगमों द्वारा प्राप्त औसत मुनाफ़े से काफ़ी ऊँची है। अमेरिका के वित्तीय अभिकरण के लेखा के अनुसार निर्माण-उद्योग में मुनाफ़े का कुल मानक 20 प्रतिशत की सीमा में घटता-बढ़ता रहा जबकि उसी समय सैनिक ठेकों पर काम करने वाले निगमों ने 100 प्रतिशत तक मुनाफ़ा कमाया।

साम्राज्यवादी देशों की सरकारें सैन्यीकरण का प्रयोग आर्थिक विकास को प्रभावित करने वाले उपकरण के रूप में करती हैं। सैनिक तकनीक बहुत जल्द पुरानी हो जाती है। इसलिए शस्त्रों का लगभग लगातार पुनर्स्थापन ज़रूरी होता है। इससे सैन्य-औद्योगिक निगमों की ओर ठेकों तथा विस्मयकारी मुनाफ़ों का नियमित प्रवाह बना रहता है।

अर्थव्यवस्था का सैन्यीकरण आर्थिक स्थिति और औद्योगिक चक्र को भी कुछ हद तक प्रभावित करता है। सैनिक-उत्पादन में संरचनात्मक परिवर्तन तथा उसका एवं उसके अनुकूल शस्त्र-बाजार का विस्तार व संकुचन आर्थिक-चक्र की विशेष अवस्थाओं के आगमन, प्रकृति और दीर्घता को प्रभावित करता है। यद्यपि ये परिवर्तन पूँजीवादी पुनरुत्पादन के चक्रीय विकास के स्वतः प्रवर्तित नियमों को रद्द नहीं करते हैं।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का सैन्यीकरण एक ऐसा कारक है जो पूँजीवाद के प्रमुख अंतर्विरोध—उत्पादन की सामाजिक प्रकृति तथा उसका फल प्राप्त करने के निजी पूँजीवादी रूप के बीच का अंतर्विरोध—को और अधिक तीक्ष्ण व गहरा बनाता है। उस प्रसंग में उत्पादन तथा उपभोग के बीच बढ़ती विसंगति ध्यान देने योग्य है। उच्चतर सैनिक-व्यय का परिणाम उच्चतर कर होते हैं और यह व्यय मेहनतकशों के उपभोग में बाधा डालता है, कुछ मामलों में तो उसमें पूर्ण ह्रास भी करता है। भौतिक संसाधन व मानव-शक्ति के काफ़ी अंश का अनुप्रेषण लोक-आवास, परिवहन, सचार की ज़रूरतों को संतुष्ट करने, पर्यावरण की सुरक्षा और स्वास्थ्य व शिक्षा की व्यवस्था में उन्नति की सम्भावनाओं को संकुचित करता है। इसी वजह से अर्थव्यवस्था का सैन्यीकरण सामाजिक सुरक्षा को क्षति पहुँचाता है और लोक-सेवकों के वेतनों को कम करता है।

सैनिक व्यय की पूर्ति करने के लिए राज्य काग़ज़ी-मुद्रा की स्फीति-मात्रा में निकासी सहित अनेक तरह के मौद्रिक-स्रोतों का उपयोग करता है। सैन्यीकरण और युद्ध की तैयारियाँ साम्राज्यवादी देशों के राज्य-बजटों एवं भुगतान-संतुलन में घाटा होने के प्रमुख कारण हैं। सैन्यीकरण मौद्रिक-वित्तीय संकट को भी बढ़ाता है। यह अबाधित शस्त्र दौड़ को—जो सैनिक-उत्पादन की मात्रा को विराट रूप

मे बढाती है—कीमत और पूँजीवाद के क्षय की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति है।

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का राज्य-इजारेदारी नियंत्रण—यहाँ हमारा आशय आर्थिक-संकट को हल्का करने, आर्थिक-विकास की दरो को स्थिर करने व बढाने, उत्पादन के सकेन्द्रण को तीव्र करने, अर्थव्यवस्था मे सरचनात्मक परिवर्तनो को प्रोत्साहित करने और निश्चित सामाजिक-समस्याओं से निपटने के लिए किए गए सरकारी उपायो के समस्त समूह से है।

दोनों महायुद्धों के समय अर्थव्यवस्था का कठोर राज्य-नियंत्रण प्रभावी था। किन्तु यह केवल युद्धकालीन उपाय नहीं था, दोनों महायुद्धो के बीच के समय मे भी (विशेष रूप से 1929-33 के आर्थिक-संकट के समय) पूंजीवादी देशो मे अर्थ-व्यवस्था का राज्य नियंत्रण मौजूद था। हाल के दशकों मे साम्राज्यवादी देशो के आर्थिक विकास में यह स्थायी उपादान रहा है।

आधुनिक विश्व मे राज्य-इजारेदार नियंत्रण का क्षेत्र और गहराई दोनो बढ गये हैं। अधिकांश साम्राज्यवादी देशों मे आर्थिक-नियंत्रण के विशेष-निकाय और सस्थाएँ काम कर रही हैं। नियंत्रण के बहुत से उपाय सीधे उत्पादन की ओर लक्षित हैं तथा वे संचय व उपभोग के बीच संबंधों और सामाजिक-आर्थिक आधार-भूत ढाँचे के विकास पर काफ़ी प्रभाव डालते हैं।

राज्य-इजारेदार-नियंत्रण को स्थापित करने के अनेक उपाय हैं। इसका एक बहुत महत्त्वपूर्ण उत्तोलक राजकीय निवेश है। इन निवेशो मे कोई भी राजकीय-निर्माण उद्योग, कच्चा माल व ऊर्जा-संसाधनों के विकास, यातायात, आवास व नगरीय निर्माण के लिए निवेश और पिछले दो दशको मे शोध व विकास के लिए निवेश को छाँट सकता है। सारे साम्राज्यवादी देशों का एक लक्षण कुल निवेश मे राज्य का हिस्सा बढ़ना है। राज्य संस्थाओं और कम्पनियों की माँग निजी निवेश की मात्रा तथा दिशा को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे प्रभावित करती है। इसके अलावा प्रायः राज्य विविध प्रकार के कर लाभ, बढे हुए मूल्य-ह्रास-चक्र आदि के द्वारा निजी निवेश को प्रोत्साहन देता है।

कृषि-उत्पादो की माँग, आपूर्ति तथा क़ीमतो को नियमबद्ध करके और फिर कृषि-उत्पादन के ढाँचे पर इसके प्रभाव के माध्यम से राज्य की नियंत्रक-गतिविधियो का कृषि-क्षेत्र मे भी विस्तार होता है। कृषि-क्षेत्र में उत्पादन व पूँजी के संकेन्द्रण को प्रोत्साहित करके पूँजीवादी राज्य प्रायः कृषि योग्य भूमि के आकार को कम करने की नीति पर चलता है। कृषि-मूल्यों के एक निश्चित-स्तर को बनाए रखने के लिए राज्य-संगठन किसानों से उनका अतिरिक्त उत्पादन ख़रीद लेते हैं। वे कृषि तथा पशु-पालन मे सरचनात्मक परिवर्तन के लिए वित्त-व्यवस्था करने के अनेक तरीक़े काम मे लाते हैं और भूमि-प्रबन्ध के प्रश्नों में भी हस्तक्षेप करते हैं। कुल मिलाकर कृषि-क्षेत्र मे राजकीय-उपायों की व्यवस्था उत्पादन के

साधनों के निजी स्वामित्व के आधारों को प्रभावित नहीं करती है। यह अराजकता और प्रतियोगिता को समाप्त नहीं कर सकती जो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के अनिवार्य गुण-धर्म हैं।

साम्राज्यवादी देशों की सरकारें सामाजिक-आर्थिक अनिवार्यताओं के कारण अपनी अर्थव्यवस्थाओं को नियोजित करती हैं। वैज्ञानिक प्रौद्योगिक क्रांति के कारण उत्पादक-शक्तियों का बढ़ा हुआ समाजीकरण, पूंजीवादी पुनरुत्पादन के अंतर्विरोधों में और अधिक वृद्धि तथा दो विरोधी व्यवस्थाओं के बीच संघर्ष—ये सब विकास कार्यक्रमों को पूरा करने एवं उनका विस्तार करने की जरूरत उत्पन्न करते हैं। इजारेदार पूंजीपतियों की रणनीति का भी निश्चित महत्त्व है जो बढ़ते हुए सामाजिक द्वन्द्वों की स्थिति में अपनी सर्वोच्चता को इस तरह के उपायों से बनाये रखने की कोशिश करते हैं।

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का नियोजन आर्थिक जीवन का एक स्थायी उपादान बनता जा रहा है। इसका उद्देश्य आर्थिक प्रगति की दरों को स्थिर बनाने व ऊपर उठाने के लिए पूंजीवादी पुनरुत्पादन को प्रभावित करना, औद्योगिक संतुलन प्राप्त करना, अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तनों को प्रोत्साहित करना आदि है। दीर्घकालीन विकास कार्यक्रमों, विशेष रूप से निवेश परियोजनाओं और साथ ही भावी अनुमानों को बनाते समय राष्ट्रीय लेखाविधि तथा निवेश व निर्गम सारणियों की प्रणाली और जटिल समष्टि अर्थशास्त्रीय प्रतिमानों का व्यापक प्रयोग किया जाता है।

राज्य-इजारेदार कार्य नियोजन को समाजवादी अर्थव्यवस्था के नियोजन के समान नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों की सामाजिक-आर्थिक आधार-शिलाएँ पूरी तरह भिन्न हैं। पूंजीवादी देशों में कार्य-नियोजन का प्रत्यक्ष प्रभाव अर्थव्यवस्था के केवल राजकीय क्षेत्र पर होता है। जहाँ तक निजी कंपनियों का सवाल है, सरकार का आर्थिक कार्य-नियोजन सिर्फ अनुशंसा के रूप तक सीमित रहता है। वह किसी भी तरह बाध्यकारी नहीं होता। पश्चिमी यूरोप में आर्थिक विकास के अधिकांश स्वीकृत कार्यक्रम कभी भी संपूर्ण रूप में पूरे नहीं हुए। निजी स्वामित्व और मुनाफे की खोज, जो पूंजीवाद की प्रेरक शक्तियाँ हैं, वास्तविक वैज्ञानिक नियोजन को वर्जित करती हैं जो कि विभिन्न उद्योगों के बीच तथा समग्र अर्थव्यवस्था में भी सही संतुलन स्थापित कर सकती है।

राज्य-इजारेदारी नियंत्रण और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का कार्य-नियोजन अनिवार्यतः वर्गीय-प्रकृति के हैं। वे सबसे पहले कुल मिलाकर इजारेदार पूंजीपति-वर्ग के हितों को पूरा करते हैं और व्यवहार में बहुधा उनका प्रयोग मेहनतकशों के जीवन-स्तर व अधिकारों पर प्रहार करने के लिए किया जाता है। राज्य-इजारेदारी नियंत्रण पूंजीवाद में अंतर्निहित संकट तथा उसकी चक्रीय पद्धति का अन

नहीं कर सकता और न ही वह पूंजीवाद की अनवरत आर्थिक-वृद्धि को सुनिश्चित कर सकता है क्योंकि वह पूंजीवाद के स्वत प्रसूत चरित्र एवं उत्पादन के विषम अनुपाती विकास को समाप्त नहीं कर सकता। वह पूंजीवादी समाज के उन सामाजिक अंतर्विरोधों को सुलझाने में भी असमर्थ है जो उग्र होकर राज्य को शिक्षा, मजदूरों के लिए विशेष प्रशिक्षण, 'गरीबी के विरुद्ध युद्ध' आदि उपाय अपनाने को प्रेरित करते हैं। अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण होने का तथ्य यह बतलाता है कि आधुनिक पूंजीवाद की शक्तियां अब इस व्यवस्था के उत्पादन संबंधों की प्रोक्रुस्टेस[1] की शैय्या के अनुरूप नहीं रह गई है और आर्थिक संगठन के अधिक प्रगतिशील समाजवाद सिद्धांतों की दिशा में परिवर्तन चाहती हैं।

3. राज्य-इजारेदार पूंजीवाद और समाजवाद के लिए परिस्थितियों का निर्माण

उत्पादक-शक्तियों का विकास स्वाभाविक रूप से ऐसी स्थिति उत्पन्न करता है *जब पूंजीवादी उत्पादन अधिक-से-अधिक समाजीकृत हो जाता है।* राज्य-इजारेदार पूंजीवाद इस प्रक्रिया को तेज करता है। उत्पादन के सकेंद्रण को प्रोत्साहन, सरकारी क्षेत्र का विस्तार और राष्ट्रीय आय के अधिकाधिक प्रतिशत का केंद्रित उपयोग पूंजीवादी पुनरुत्पादन को प्रभावित करता है। ये सब साफ-साफ समाजीकरण के विभिन्न पक्ष हैं। इस बीच लाभ का अधिग्रहण निजी ही बना रहता है। लाखों-करोड़ों व्यक्तियों के श्रम से उत्पादित संपदा का अधिकांश भाग इजारेदार पूंजीपति-वर्ग द्वारा हड़प लिया जाता है जबकि समाजीकृत उत्पादन की वस्तुनिष्ठ आवश्यकता यह होती है कि यह संपदा समग्र रूप से समाज की सम्पत्ति बन जाये। इस प्रकार पूंजीवादी उत्पादन की प्रक्रिया स्वयं अनिवार्य रूप से पूंजीवादी-व्यवस्था के विनाश की आवश्यकता के परिणाम तक पहुंच जाती है।

लेनिन ने राज्य-इजारेदार पूंजीवाद का विश्लेषण किया और यह बताया कि पूंजीवादी-उत्पादन के समाजीकरण के समय आर्थिक-जीवन को नियंत्रित करने वाले राज्य-तंत्र का जाल विकसित होता है। इस तंत्र का उपयोग मजदूर-वर्ग समाजवादी-उत्पादन को संगठित करने के लिए कर सकता है। लेनिन ने राज्य-इजारेदार पूंजीवाद में इस तथ्य का भारी महत्व देखा कि पूंजीवादी-व्यवस्था समाजवादी क्रांति के लिए पूरी तरह परिपक्व हो चुकी है और इससे उन्होंने असीम ऐतिहासिक महत्व का यह निष्कर्ष निकाला—"राज्य इजारेदार पूंजीवाद समाजवाद की परिपूर्ण भौतिक तैयारी है, समाजवाद की देहरी है, इतिहास की नसैनी

---

1 प्रोक्रुस्टेस—प्राचीन ग्रीस का एक अत्याचारी डाकू जो अपने शिकारों को खींच खींच करके अपनी शैया के अनुरूप बना लेता था।—अनुवादक

अध्याय : 6

पूंजीवादी राजनीति और विचारधारा का बढ़ता हुआ संकट

पूंजीवाद के आम-संकट का गहरा होना, समग्र राजनैतिक प्रतिक्रियावाद की अभूतपूर्व तीव्रता, पूंजीवादी-जनवादी स्वतंत्रताओं की अस्वीकृति और पूंजीवादी विचारधारा के गहन संकट के रूप में प्रकट होता है।

1. पूंजीवादी देशों में बढ़ा हुआ राजनैतिक प्रतिक्रियावाद

पूंजीवाद के आम-संकट के समय पूंजीवादी देशों में राजनैतिक प्रतिक्रियावाद का तेज हो जाना, बार-बार होने वाली महत्वपूर्ण परिघटना है। अपनी सर्वोच्चता को बनाये रखने के लिए इजारेदार पूंजी मेहनतकशों को उन जनवादी अधिकारों से वंचित करने की कोशिश करती है, जो मजदूर-वर्ग की अनेक पीढ़ियों के युद्ध-निश्चयी संघर्षों के परिणामस्वरूप प्राप्त हुए थे। पूंजीवाद के आम-संकट के अंतर्गत राजनैतिक प्रतिक्रियावाद की उग्रता प्रजातंत्र-विरोधी व फासिस्ट शासनों के रूप में पूरी तरह प्रकट होती है।

प्रजातंत्र से प्रतिक्रियावाद की ओर परिवर्तन साम्राज्यवाद की घरेलू व विदेश, दोनों ही नीतियों की विशेषता है। घरेलू नीति में प्रतिक्रियावादी दिशा विदेशनीति में भी आक्रामक-दिशा को निर्धारित करती है। यही वह बात है जिससे कोई भी साम्राज्यवाद के आंतरिक व बाहरी कार्यों में अविभाज्य संबंध, जो इजारेदार पूंजी के स्वार्थ के अनुसार निर्धारित होता है, को पहचान सकता है। लेनिन ने लिखा है—"घरेलू व विदेशनीति, दोनों में साम्राज्यवाद प्रजातंत्र के उल्लंघन का तथा प्रतिक्रियावाद की ओर उन्मुख होने का प्रयास करता है। इस अर्थ में साम्राज्यवाद निर्विवाद रूप से प्रजातंत्र के सामान्य रूप का निषेध है, संपूर्ण प्रजातंत्र का

निषेध···।"[1]

पूँजीवाद के आम-संकट के साथ इजारेदार पूँजीपति वर्ग में बढ़ती हुई प्रजातंत्र-विरोधी आकांक्षाओं का विकास हुआ। इसका कारण यह था कि सर्वहारा और पूँजीपति वर्ग के बीच अंतर्विरोध उच्च बिंदु तक पहुँच गया था और उसने पूँजीपति वर्ग की सर्वोच्चता के लिए सीधा खतरा उत्पन्न कर दिया था। साम्राज्यवादी पूँजीपति वर्ग पूँजीवादी प्रजातंत्र के पुराने तरीक़े से अब अधिक समय शासन नहीं कर सकता था, इसलिए उसने पूँजीवादी प्रजातंत्र तथा संसदवाद को या तो कम करना अथवा पूरी तरह नष्ट करना शुरू कर दिया। लेनिन ने लिखा है कि पहले महायुद्ध की विशेषता थी—"···पूँजीवादी संसदवाद और पूँजीवादी प्रजातंत्र के पतन की शुरुआत···।"[2] यह वास्तव में राजनीति तथा विचारधारा के क्षेत्र में पूँजीवाद के आम-संकट की शुरुआत थी।

पूँजीवाद के आम-संकट के दौरान साम्राज्यवादी पूँजीपति-वर्ग द्वारा संसदवाद तथा पूँजीवादी प्रजातंत्र के त्याग की इच्छा, तीव्र वर्ग-संघर्ष, पूँजीवाद की स्थिति मे बढ़ता हुआ कटाव, और समाजवाद से (जिसकी शक्तियाँ बढ़ती जा रही हैं) भय का परिणाम है। इन परिस्थितियों में साम्राज्यवादी पूँजीपति वर्ग विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के बढ़ते विनाश को पूँजीवादी-प्रजातंत्र के तरीकों से अधिक समय नहीं रोक पाता। फ़ासीवाद प्रतिक्रियावाद का सर्वाधिक भयानक परिणाम है। यह इजारेदार पूँजीपति वर्ग की तानाशाही का सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी रूप है जिसे पूँजीपति वर्ग मेहनतकशों के क्रांतिकारी आंदोलन को दबाने के एक साधन के रूप मे समाज पर थोपता है। यह पूँजीपति वर्ग तथा सर्वहारा के बीच सर्वाधिक तीक्ष्ण संघर्ष के दौरान उत्पन्न होता है जबकि पूँजीपति वर्ग पुराने संसदीय तरीकों से अधिक समय तक अपनी सत्ता बनाये रखने मे असमर्थ होकर आतंकवादी तानाशाही, मजदूर वर्ग व समस्त जनवादी आंदोलन के दमन और उत्तेजक सामाजिक लफ़्फ़ाज़ी का सहारा लेता है। फ़ासीवाद साम्राज्यवादी देशों के वित्तीय अल्पतंत्र के सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी व आक्रामक-तत्वों की खुली तानाशाही है। यह घरेलू मामलों में जनवादी अधिकार व स्वतंत्रताओं को खत्म करके पूँजीवादी-व्यवस्थाओं को बनाये रखने का प्रयत्न करता है और अंधराष्ट्रवादी विदेशनीति का अनुसरण करता है। फ़ासीवादी तानाशाहों की आंतरिक नीति के मूलतत्व कम्युनिस्ट एवं मजदूर दलों की समाप्ति, मजदूर-संघ व अन्य प्रगतिशील जनवादी संगठनों का नाश और आधारभूत पूँजीवादी-जनवादी स्वतंत्रताओं को नष्ट करना है।

1. वी॰ आई॰ लेनिन, 'मार्क्सवाद का विद्रूप और साम्राज्यवादी अर्थवाद', संकलित रचनाएँ, भाग 23, पृ॰ 43 (अंग्रेजी में)।
2. वी॰ आई॰ लेनिन, [illegible]

जर्मनी में 1920 के दशक के आरम्भ में फ़ासीवादी संगठन प्रकट हुए। 1920 में जर्मनी की राष्ट्रीय समाजवादी मजदूर पार्टी बनी। जर्मनी के इजारेदार पूंजीपति वर्ग ने नाज़ियों को भारी वित्तीय सहायता दी। 1929-33 के विश्व आर्थिक संकट के दिनों में जीवन-स्तर में भयंकर गिरावट ने नाज़ियों को अपनी उत्तेजक लफ्फ़ाजी से जनगण को (ख़ास तौर से मध्यवर्गीय क्षेत्रों को) प्रभावित करने में सहायता दी। नाज़ियों द्वारा सत्ता पर कब्ज़े को प्रतिक्रियावादी सामाजिक जनवादी नेताओं के विश्वासघात से भी मदद मिली। 1929-33 के आर्थिक संकट के दिनों में शहरों और ग्रामीण क्षेत्रों में अपने अधिकारों के लिए मेहनतकशों के संघर्ष तथा वर्गीय अंतर्विरोधों के तीव्र हो जाने से जर्मन-पूंजीवाद के अस्तित्व को ही ख़तरा उत्पन्न हो गया था। इजारेदार पूंजीपति वर्ग ने अपनी सत्ता को बचाये रखने के लिए वित्तीय पूंजी की आतंकवादी तानाशाही स्थापित कर दी। पुनरुत्थानवादी मानसिकता वाले छोटी पूंजी के मालिकों ने भी जर्मनी में फ़ासीवाद का समर्थन किया। इस स्थिति में फ़ासीवाद ने मजदूर-वर्ग के क्रांतिकारी आन्दोलन को कुचल दिया।

1933 में जर्मनी के प्रभावशाली वित्तीय वर्ग तथा विदेशी इजारेदार पूंजी से सहायता पाकर हिटलर के फ़ासीवादी दल ने सत्ता पर कब्ज़ा कर लिया और दूषित तानाशाही स्थापित कर दी। जर्मनी में सत्ता पर नाज़ियों द्वारा अधिकार को सिर्फ़ सामाजिक-जनवादियों के विश्वासघात और मजदूर वर्ग की कमज़ोरी का चिह्न ही नहीं समझा जाना चाहिए, यह पूंजीपति वर्ग की निर्बलता का भी चिह्न था जो संसदवाद तथा पूंजीवादी प्रजातन्त्र के पुराने तरीक़े से अधिक समय शासन करने में समर्थ नहीं रह गया था।

दूसरे महायुद्ध का अंत फ़ासीवादी शक्तियों की पराजय से हुआ, लेकिन फ़ासीवाद ने संघर्ष नहीं छोड़ा। अनेक साम्राज्यवादी देशों में वित्तीय अल्पतन्त्र ने सशस्त्र अनुचरों की मंडली का संगठन करके तथा उनके चालाकीपूर्ण उपयोग से फ़ासीवादी शासनों की स्थापना कर दी। यद्यपि जर्मनी एवं इटली का घृणित फ़ासीवाद पराजित हो गया किन्तु बहुत से देशों में फ़ासीवादी शासन नये रूपों में पुनर्जीवित होने लगे। कुछ पूंजीवादी देशों में नव-फ़ासीवादी संगठन खुले रूप में काम कर रहे हैं।

समाचार-पत्रों के अनुसार पश्चिमी जर्मनी में 100 से अधिक नव-नाज़ी तथा दक्षिणपंथी संगठन काम कर रहे हैं। ये सब 1964 में बने नव-फ़ासीवादी जर्मनी के राष्ट्रीय प्रजातान्त्रिक दल से सम्बन्धित हैं। इसके नेतृत्व का संगठन लगभग पूरी तरह से पूर्व-नाज़ियों से हुआ है। पश्चिमी जर्मनी के पुनरुत्थानवादी एवं नव-नाज़ी शक्तियों के प्रवक्ता एडोल्फ़ वान थाडेन ने स्वयं को फ्यूहरर घोषित कर दिया है। इसके कार्यक्रम, प्रचार-सामग्री [illegible]

पर राष्ट्रीय प्रजातांत्रिक दल निश्चय ही नव-नाज़ी दल है। यह जर्मन ज
गणतंत्र के साथ निकट सम्बन्धों के पक्षधर, तनाव-शैथिल्य के समर्थक और सो
विरोध एवं साम्यवाद-विरोध का विरोध करने वाली प्रजातांत्रिक शक्ति
विरुद्ध भौतिक-आतंक का प्रयोग करने के लिए सब दक्षिण-पंथी संगठनों का अ
करता है। सारे नव-फ़ासीवादी तथा उग्रवादी, जो पश्चिमी जर्मनी में छुपक
खुले रूप में काम कर रहे हैं, राष्ट्रीय प्रजातांत्रिक दल के चारों तरफ़ संगठित

इटली में अनेक सक्रिय नव-फ़ासिस्ट उग्रवादी संगठन और गुट हैं। उन
एक इटली का सामाजिक आन्दोलन (एम० एस० आई०) है जिसकी नीति इ
की कम्युनिस्ट पार्टी को (जो मेहनतकशों के हित में नव-फासिस्ट खतरे के ि
संघर्ष का नेतृत्व कर रही है) नष्ट करना है। एम० एस० आई० अकेला फ़ा
समर्थक संगठन नहीं है—दूसरा बहुत महत्वपूर्ण संगठन राष्ट्रीय मोर्चा (
एफ़०) है। इटली में आज फ़ासिस्ट-समर्थक संगठन देश में प्रजातांत्रिक शक्ति
और गणतांत्रिक संविधान के लिए ख़तरा बन गये हैं। इसी कारण फ़ासि
समर्थक संगठनों की योजनाओं को विफल करने के लिए इटली की कम्युनिस्ट प
व दूसरे वामपंथी दल, प्रजातांत्रिक संगठन और प्रगतिशील जन एक साथ ि
गये हैं।

अमरीका में जान बर्च सोसायटी, कम्युनिस्ट-विरोधी ईसाई-क्रूसेड, य
प्रतिरक्षा संघ, अमेरिकन लीजन (सेना), अमेरिकन राइफल संघ और ऐसे
संगठन सक्रिय हैं। अन्य फ़ासिस्ट तत्त्वों के साथ जान बर्च सोसायटी सामा
अमरीकी जन की प्रजातंत्र के लिए भावना के साथ बेशर्मी से खिलवाड़ करती ह
वे अमरीका की कम्युनिस्ट पार्टी को 'विदेशी-दलाल' कहकर बदनाम करती
और यह दावा करती हैं कि साम्यवाद अपने सारतत्त्व में प्रजातंत्र विरोधी है
अमरीका में अति दक्षिण-पंथी तत्त्व सरकार पर शीत-युद्ध को वास्तविक यु
में बदलने के लिए दबाव डाल रहे हैं। बर्चवादी जैसे फ़ासिस्ट गुट खुले और छ
दोनों ही तरीक़ों से विनाशक गतिविधियाँ संचालित कर रहे हैं और अमरीक
निगमों द्वारा उनके लिए उदारता से वित्त-प्रबन्ध किया जाता है।

सत्तर के दशक की घटनाओं ने यह दिखाया है कि जब साम्राज्यवाद का संक
गहरा होता है और जब प्रतिक्रियावादी, जनवादी एवं क्रांतिकारी शक्तियों के विरु
अत्यधिक हिंसात्मक दमन के तरीक़ों का प्रयोग करने के लिए विशेष कठो
प्रयत्न करते हैं, तब फ़ासीवाद की गतिविधियाँ तीव्र होती हैं।

सितम्बर, 1973 में चिली के वैधानिक रूप से निर्वाचित लोकप्रिय मोर्चा
... को उखाड़ कर सैन्य-फासिस्ट जनता ने सत्ता पर कब्ज़ा कर लिया।
... ने चिली के देशभक्तों के साथ जो क्रूर आतंकवादी व्यवहार किया है, वह
... खतरे का एक और संकेत है। चिली की घटनाओं ने यह दिखाया

है कि जैसे ही स्वाधीनता की लोकप्रिय आकांक्षा पूंजीपतियों के वर्गहितों के लिए खतरा बनने लगती है, पूंजीपति वर्ग पूंजीवादी-प्रजातंत्र के मुखौटे को फेंक देता है और अपनी सर्वोच्चता की रक्षा तथा जनगणों द्वारा प्राप्त लाभों को नष्ट करने के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी की मदद सहित सब प्रकार के तरीके प्रयोग में लाता है।

हाल के वर्षों में नव-फासिस्टों की सर्वाधिक व्यापक कार्य-नीति आतंकवादी कार्यों द्वारा तनाव, चिन्ता व भय पैदा करना, आर्थिक-अव्यवस्था को प्रोत्साहन देना जारी रही है। इस कार्य-नीति का एक उद्देश्य तनाव की परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए और 'व्यवस्था पुनर्स्थापित करने' के बहाने से अतिवादी दक्षिणपंथी शक्तियों को सत्ता पर कब्जा करने का अवसर देना है। नव-फासिस्ट संगठनों को (जो या तो पुनर्जीवित हो गये हैं या नये संगठनों की स्थापना की गई है) कार्य करने से रोकने के लिए यदि जनवादी शक्तियां अधिक दृढ़ता से संघर्ष नहीं करती हैं तो ये संगठन शांति एवं तनाव-शैथिल्य के लिए गंभीर खतरा बन सकते हैं।

वित्तीय पूंजी के सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी तत्वों के राजनीतिक शस्त्र के रूप में, युद्ध के बाद के समय में फासिस्ट संगठनों का उदय दो मूल रूप ग्रहण करता है, कुछ संगठन हिटलर एवं मुसोलिनी के घृणित विचारों में खुलेआम विश्वास प्रकट करते हैं जबकि कुछ अन्य पूंजीवादी दलों व संगठनों (सत्तासीन दलों व संगठनों सहित) में भीतर घुसकर छुपे रूप में ऐसा करते हैं और उन संगठनों का अपने पक्ष में चालाकीपूर्ण उपयोग करने का प्रयत्न करते हैं। युद्धोत्तर काल में विशेष रूप से पूंजीवाद के आम-संकट की तीसरी अवस्था में, प्रजातंत्र के विरुद्ध प्रतिक्रियावाद का हमला सर्वधानिक व्यवहार एवं चुनावी-परम्पराओं के घुसे-पैठ के रूप में विकसित हो रहा है। इसे सभी पूंजीवादी देशों में देखा जा सकता है। कुछ देशों में सरकार की शक्ति को मजबूत करने तथा उसकी गति-विधियों पर विधायिका के नियंत्रण को निर्बल करने के लिए अनेक संवैधानिक संशोधन प्रस्तावित किये गये हैं। कुछ अन्य देशों में जनगण के अधिकारों का अतिक्रमण करने के लिए चुनावी कानूनों को संशोधित किया गया है जिसका परिणाम मजदूर दलों को हानि पहुंचाकर दक्षिणपंथी पूंजीवादी दलों के पक्ष में संतुलन का भारी झुकाव हुआ है।

जिन विशेष तरीकों से प्रतिक्रियावाद प्रजातंत्र का अतिक्रमण करता है, उनमें से एक 'आतंकवाद के विरुद्ध संघर्ष' के बहाने से आक्रमण करना है। फासिस्ट इटली एवं नाजी जर्मनी में ऐसा ही हुआ और आज कुछ यूरोप के देशों में तथा अमरीका के प्रतिक्रियावादी, साम्राज्यवादी लोग उनका अनुसरण कर रहे हैं। प्रजातंत्र का अतिक्रमण अनेक नये रूप [illegible] जनगणों को [illegible] करता है, [illegible]

में प्रजातंत्र के पक्ष में संघर्ष करने के लिए एक व्यापक-मोर्चा बनाने की वस्तुनिष्ठ संभावनाएँ उत्पन्न होती हैं।

इस तथ्य के बावजूद कि पूंजीवादी गणतंत्र का चेहरा अपने पीछे वित्तीय-पूंजी के वर्ग-आधिपत्य के तंत्र को छुपाये रहता है और पूंजीपति वर्ग समस्त प्रजातांत्रिक संस्थाओं का नियंत्रण अपने हितों की दृष्टि से करने का प्रयत्न करता है, लेनिन ने बताया है—"अपनी मुक्ति के लिए पूंजीवाद के विरुद्ध संघर्ष में मजदूर वर्ग के लिए प्रजातंत्र का बहुत भारी महत्त्व है।"[1] मजदूर वर्ग के नेतृत्व में प्रजातंत्र एवं शांति की शक्तियों का मोर्चा साम्राज्यवादी शक्तियों के शासकीय क्षेत्रों को स्थानीय युद्ध न उकसाने, एक नये युद्ध के लिए तैयारियाँ रोकने और अर्थव्यवस्था को नागरिक—आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने के लिए विवश कर सकता है। यह मोर्चा फ़ासिस्ट प्रतिक्रियावाद को भी रोक सकता है और शांति, राष्ट्रीय स्वाधीनता, जनवादी अधिकार तथा उच्चतर जीवन-स्तरों के कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के लिए साम्राज्वादी सरकारों को मजबूर कर सकता है।

मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धांतों के प्रति निष्ठावान कम्युनिस्ट दलों के नेतृत्व में मजदूर वर्ग का आंदोलन साम्राज्यवादी प्रतिक्रियावाद के आक्रमण को रोकने और किसान एवं मेहनतकशों के अन्य क्षेत्रों को (जो मजदूर वर्ग के स्वाभाविक साथी हैं) संघर्ष में शामिल करने के लिए जनवादी अधिकार तथा स्वतंत्रताओं का उपयोग करने का प्रयत्न कर रहा है। मेहनतकश संसद के लिए ऐसे प्रतिनिधि चुन सकते हैं जो संसद में साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग की प्रतिक्रियावादी नीतियों का पर्दाफाश करेंगे और प्रतिक्रियावादी क़ानूनों को स्वीकृत होने से रोकेंगे।

मजदूर वर्ग के लिए प्रजातंत्र का महत्त्व केवल इस तथ्य से ही निर्धारित नहीं होता है कि वह साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में इसका प्रयोग करता है, बल्कि इस तथ्य से भी होता है कि वास्तविक प्रजातंत्र की माँग मजदूर वर्ग के आंदोलन के अंतिम उद्देश्य और वर्ग-आधिपत्य को पूरी तरह नष्ट करने में उसकी ऐतिहासिक भूमिका को पूरा करती है। इस सम्बन्ध में लेनिन ने बताया है—"यह सोचना अतिवादी भूल होगी प्रजातंत्र के लिए संघर्ष समाजवादी क्रांति से सर्वहारा का ध्यान हटाने में या इस उद्देश्य को छुपाने, धुंधला कर देने आदि में समर्थ है। इसके विपरीत, जैसे ऐसा कोई विजयी समाजवाद नहीं हो सकता जो पूर्ण प्रजातंत्र पर [illegible] हो, उसी तरह प्रजातंत्र के लिए संपूर्ण, लगातार और क्रांतिकारी [illegible] सर्वहारा पूंजीपति वर्ग पर विजय के लिए तैयारियाँ भी नहीं कर

[1] लेनिन, 'राज्य और क्रांति', संकलित रचनाएँ, भाग 25, पृष्ठ 476 में)

सकता।"[1] प्रजातंत्र के लिए संघर्ष मजदूर वर्ग को समाजवादी क्रांति के लिए तैयार करता है।

दक्षिणपंथी व वामपंथी अवसरवादियों से अलग कम्युनिस्ट तथा मजदूर दल वास्तविक आर्थिक-सामाजिक मांगों तथा उन्नत प्रजातंत्र के लिए संघर्ष का (समाजवाद के लिए संघर्ष से उसकी तुलना करते हुए) विरोध नहीं करते हैं बल्कि उसे समाजवाद के लिए संघर्ष का हिस्सा मानते हैं। इजारेदार तथा उनकी आर्थिक सर्वोच्चता व राजनीतिक शक्ति के विरुद्ध संघर्ष करते हुए जो मूलगामी जनवादी सुधार प्राप्त किये जायेंगे, वे व्यापक जनसमूहों को समाजवाद आवश्यकता अनुभव कराने में बड़ी हद मात्रा में सहायता करेंगे।

2 पूंजीपति वर्ग की विचारधारा का गहरा होता संकट

पूंजीवाद का आम-संकट केवल अर्थव्यवस्था तथा राजनीति को ही प्रभावित नहीं करता है बल्कि विचारधारा और पूंजीवादी समाज में जिंदगी के अन्य क्षेत्रों को भी प्रभावित करता है। पूंजीपति वर्ग ऐसे विचार प्रस्तुत करने में अब अधिक समर्थ नहीं है जो जनगण के दिल और दिमाग को जीत सके। पूंजीवादी देशों में अधिक जनगण पूंजीवादी विश्व दृष्टि को अस्वीकार कर रहे हैं और पूंजीपति वर्ग की विचारधारा एक गंभीर संकट में फंस गयी है।

कुछ पूंजीवादी देशों में, विशेषतः अमरीका में पूंजीवादी राजनीतिक नेता और सिद्धांतकार इस विचार को लोकप्रिय बना रहे हैं कि 20वीं शताब्दी के पूंजीवाद का 'कायाकल्प' हो गया है और 'पुराना पूंजीवाद' एक नये 'पूंजीवाद' से प्रतिस्थापित हो गया है। नये पूंजीवाद ने अपने लूटमार करने वाले शोषक स्वरूप को त्याग दिया है और अब यह, यह कहा जा सकता है कि 'जनता का पूंजीवाद' 'एक वर्गविहीन कल्याण राज्य' और एक 'प्रचुरता का समाज' हो गया है जिसका उद्देश्य 'उपभोक्ता' एवं मेहनतकशों के हितों की सेवा करना है। अमेरिका के विख्यात विद्वान प्रोफेसर के प्रो० आर० जे० मानर्सन यह दावा करते हैं—"पूंजीवाद का ऐसा कोई विशिष्ट परिभाषा से अमरीका या इंग्लैंड में पिछली एक शताब्दी से अस्तित्व (यदि कभी उसका अस्तित्व रहा हो) नहीं रहा है।"[2]

'कायाकल्पित पूंजीवाद' की धारणाएं पूंजीवाद के बढ़ते विरोधमूलक अंतर्विरोध तथा इसके आम-संकट की बढ़ती गहराई पर परदा डालने और इजारेदारी युग के

---

1 वी० आई० लेनिन, 'मार्क्सवादी कार्यक्रम और राष्ट्रों का आत्म-निर्णय का अधिकार' [illegible]

आधिपत्य को छुपाने के लिए गढ़ी जाती है। इजारेदार पूंजीपति वर्ग सब जगह यह भ्रम फैलाने की कोशिश कर रहा है कि मेहनतकश जो कुछ प्राप्त करना चाहते हैं, वह सब वर्तमान व्यवस्था के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के बिना मिल सकता है। अपने शोषक व आक्रामक सारतत्व को छुपाने के लिए पूंजीवाद अनेक प्रकार की पक्ष-समर्थक धारणाओं का सहारा लेता है।

'पूंजीवाद के रूपान्तरण' की आधारभूमि के रूप में 'पूंजी के जनवादीकरण' की कल्पित कथा का उपयोग किया जाता है। पूंजीवादी अर्थशास्त्री दावा करते हैं कि सार्वजनिक निगम तथा जनता के बीच शेयरों के व्यापक वितरण का अर्थ यह है कि पूंजी का जनवादीकरण हो गया है और सभी शेयरधारी पूंजी के सह-स्वामी हैं तथा लाभांश प्राप्त करने वाले हैं। अमेरिकी अर्थशास्त्री एडोल्फ बर्ने ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मेहनतकश वास्तव में पूंजीवादी उद्यमों के मालिक हैं और निजी स्वामित्व का अस्तित्व समाप्त हो गया है। ये 'सिद्धांत' समाज के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के बीच धनराशि तथा मूल्य के आधार पर शेयरों के वितरण की पूरी तरह उपेक्षा करते हैं। इस बात के साक्ष्य हैं कि समस्त शेयरों का दो-तिहाई से अधिक भाग (मूल्य के अनुसार) ऊंची आमदनी वालों, नाम लिया जाये तो पूंजीपति, बड़े जमींदारों आदि के हाथों में संकेन्द्रित है। मजदूरों के पास बड़ी बचत नहीं होती है और जो कुछ संसाधन वे बचा पाते हैं, उसे मुसीबत के दिनों के लिए (प्राथमिक रूप से उन दिनों के लिए जब वे बेरोजगार हो जाते हैं) सुरक्षित रखते हैं। बड़े पूंजीपति छोटे व मध्यम शेयरधारकों की कीमत पर अपनी पूंजी बढ़ाने के लिए स्टॉक-एक्सचेंज की सट्टेबाजी का चालाकी भरा उपयोग करते हैं।

लेनिन ने इस संबंध मे लिखा है—"शेयरों के स्वामित्व का जनवादीकरण जिससे पूंजीवाद कुतर्कों और अवसरवादी तथाकथित 'सामाजिक जनवादी' पूंजी के जनवादीकरण तथा छोटे स्तर के उत्पादन के महत्त्व एवं भूमिका के मजबूत हो जाने आदि की आशा रखते हैं (या कहें कि वे आशा करते हैं) वास्तव में वित्तीय अल्प-तंत्र की शक्ति में वृद्धि करने का एक तरीका है।"[1] इस प्रकार 'पूंजी के जनवादीकरण' और 'स्वामियों के क्षेत्र विस्तार' की जगह वास्तविकता में पूंजीपतियों के एक छोटे समूह के हाथों में पूंजी का केन्द्रीकरण हो रहा है।

'पूंजीवाद के रूपातरण' के पक्ष में दूसरा तर्क तथाकथित 'प्रबंध-क्रांति' का है। यहां इसका मतलब यह है कि आधुनिक परिस्थितियों में, पूंजीपतियों ने तथाकथित रूप मे अर्थव्यवस्था पर से नियंत्रण खो दिया [illegible] नियंत्रण का कार्य किराये पर रखे गये (वेतनभोगी—अनु०) [illegible]

1. वी० आई० लेनिन, भाग 22, पृ० 228

प्राधिकार हो गया है।

आधुनिक पूंजीवाद के अंतर्गत, जबकि संयुक्त उद्यम व्यापक रूप मे है, पूंजी के भीतर (निवेश की गयी राशि के अनुकूल) स्वामित्व का विभाजन विशाल क्षेत्र मे फैल गया है। कार्ल मार्क्स ने इस पर बहुत पहले ही ध्यान दिया था। पूंजीवादी विचारक जो यह कहते हैं कि संयुक्त-स्टाक उद्यम राष्ट्रीय हैं, स्वामित्व के रूप के प्रश्न के स्थान पर प्रबंध के रूप के प्रश्न को रख देते हैं। वे इस तथ्य को भी भूल जाते हैं कि उद्यम की प्रकृति प्रबंध के रूप पर निर्भर होती है।

पूंजीवादी विचारक व पूंजीवादी समाज मे प्रबंधक की भूमिका को भी गलत रूप में प्रस्तुत करते हैं। स्पष्ट रूप मे प्रबंधकों का कोई विशेष वर्ग नही है। जो प्रबंध व्यवस्था के नीचे वाले क्रम में है अर्थात् जो भौतिक-उत्पादन में प्रत्यक्ष शामिल होते हैं, वे वेतनभोगी हैं! वे नीति-संबंधी निर्णय नही करते हैं और लाभ के बंटवारे मे उनकी कोई भूमिका नहीं है। जहाँ तक शीर्षस्थ प्रबंधकों का सवाल है, वे उद्यम की गतिविधियो का निर्देशन तभी कर सकते हैं जब उनके पास 51 प्रतिशत शेयरो का नियंत्रण हो अर्थात् जब वे पूंजीपति हो।

इसलिए 'प्रबंध-क्रांति' के दावे वास्तविकता से मेल नहीं खाते हैं। वे वित्तीय अल्प-तंत्र की सर्वोच्चता और उनके बढ़ते मुनाफ़ों को छुपाने के लिए गढ़े जाते हैं।

1960 के दशक मे, पूंजीवादी साहित्य मे सम-अभिरूपता का सिद्धांत व्यापक प्रचलित हो गया था। यह सिद्धांत अनिवार्यतः जो दावा करता है, वह यह है कि जैसे-जैसे पूंजीवाद तथा समाजवाद का विकास होता है, वे दोनों बढ़ती मात्रा मे समान विशेषताओं को अपनाने लगते हैं और दोनो के बीच का अंतर धीरे-धीरे मिटने लगता है। पूंजीवादी विचारक कहते हैं, यह इस तथ्य के कारण होता है कि दोनो व्यवस्थाओं मे औद्योगिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक दशाएँ अधिक-से-अधिक समान होती जा रही हैं। सम-अभिरूपता का सिद्धांत स्वामित्व के भिन्न रूपों—समाजवादी व निजी पूंजीवादी—से उत्पन्न आधारभूत अंतर की उपेक्षा करता है। न तो प्रौद्योगिक विकास और न ही संगठन व प्रबंध की कुछ सामान्य विशेषताएँ इस अंतर को समाप्त कर सकती हैं। पूंजीवाद के अंतर्गत प्रौद्योगिक विकास व अधिक कार्य-क्षमता का उपयोग अधिक तीक्ष्ण श्रम, मजदूर वर्ग के बढ़े हुए शोषण मे होता है और इसका परिणाम पूंजीवाद के अंतर्विरोधो मे अधिक गहनता होती है। समाजवाद के अंतर्गत तकनीकी प्रगति समस्त जनगण के जीवन-स्तरो मे सुधार की आधारशिला के रूप मे और श्रम के भार को कम करने के लिए काम आती है।

सम-अभिरूपता का सिद्धांत इस तथ्य का भी विशेष प्रतिबिम्ब है कि एक
के रूप मे पूंजीवाद स्वयं को प्रतिष्ठाहीन बना चुका है।
...ों मे हड़तालों की बड़ी संख्या और वर्ग-संघर्षों का गंभीर होना

आधिपत्य को छुपाने के लिए गढ़ी जाती हैं। इजारेदार पूँजीपति वर्ग सब जगह यह भ्रम फैलाने की कोशिश कर रहा है कि मेहनतकश जो कुछ प्राप्त करना चाहते हैं, वह सब वर्तमान व्यवस्था के क्रांतिकारी रूपांतरण के बिना मिल सकता है। अपने शोषक व आक्रामक सारतत्व को छुपाने के लिए पूँजीवाद अनेक प्रकार की पक्ष-समर्थक धारणाओं का सहारा लेता है।

'पूँजीवाद के रूपांतरण' की आधारभूमि के रूप में 'पूँजी के जनवादीकरण' की कल्पित कथा का उपयोग किया जाता है। पूँजीवादी अर्थशास्त्री दावा करते हैं कि सार्वजनिक निगम तथा जनता के बीच शेयरों के व्यापक वितरण का अर्थ यह है कि पूँजी का जनवादीकरण हो गया है और सभी शेयरधारी पूँजी के सह-स्वामी हैं तथा लाभांश प्राप्त करने वाले हैं। अमेरिकी अर्थशास्त्री एडोल्फ बर्ले ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मेहनतकश वास्तव में पूँजीवादी उद्यमों के मालिक हैं और निजी स्वामित्व का अस्तित्व समाप्त हो गया है। ये 'सिद्धांत' समाज के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के बीच धनराशि तथा मूल्य के आधार पर शेयरों के वितरण की पूरी तरह उपेक्षा करते हैं। इस बात के साक्ष्य हैं कि समस्त शेयरों का दो-तिहाई से अधिक भाग (मूल्य के अनुसार) ऊँची आमदनी वालों, नाम लिया जाये तो पूँजीपति, बड़े जमींदारों आदि के हाथों में संकेन्द्रित है। मजदूरों के पास बड़ी बचत नहीं होती है और जो कुछ ससाधन वे बचा पाते हैं, उसे मुसीबत के दिनों के लिए (प्राथमिक रूप से उन दिनों के लिए जब वे बेरोजगार हो जाते हैं) सुरक्षित रखते हैं। बड़े पूँजीपति छोटे व मध्यम शेयरधारकों की कीमत पर अपनी पूँजी बढ़ाने के लिए स्टॉक-एक्सचेंज की सट्टेबाजी का चालाकी भरा उपयोग करते हैं।

लेनिन ने इस संबंध में लिखा है—"शेयरों के स्वामित्व का जनवादीकरण जिससे पूँजीवाद तुक्कों और अवसरवादी तथाकथित 'सामाजिक जनवादी' पूँजी के जनवादीकरण तथा छोटे स्तर के उत्पादन के महत्व एवं भूमिका के मजबूत हो जाने आदि की आशा रखते हैं (या कहें कि वे आशा करते हैं) वास्तव में वित्तीय अल्प-तंत्र की शक्ति में वृद्धि करने का एक तरीका है।"[1] इस प्रकार पूँजी के जनवादीकरण' और 'स्वामियों के क्षेत्र विस्तार' की जगह वास्तविकता में पूँजीपतियों के एक छोटे समूह के हाथों में पूँजी का केन्द्रीकरण हो रहा है।

'पूँजीवाद के रूपांतरण' के पक्ष में दूसरा तर्क तथाकथित 'प्रबंध-क्रांति' का है। यहाँ इसका मतलब यह है कि आधुनिक परिस्थितियों में पूँजीपतियों ने तथाकथित रूप में अर्थव्यवस्था पर से नियंत्रण खो दिया है और अब नियंत्रण का कार्य किराये पर रखे गये (टेक्नोक्रेटी—अनु०) मैनेजरों, "जनगण के प्रतिनिधियों का"

---

1 वी० [illegible] 'पूँजीवाद की चरमावस्था साम्राज्यवाद', संकलित रचनाएँ, [illegible]

प्राधिकार हो गया है।

आधुनिक पूंजीवाद के अंतर्गत, जबकि संयुक्त उद्यम व्यापक रूप में हैं, पूंजी के भीतर (निवेश की गयी राशि के अनुकूल) स्वामित्व का विभाजन विशाल क्षेत्र में फैल गया है। *कार्ल मार्क्स ने इस पर बहुत पहले ही ध्यान दिया था।* *पूँजीवादी* विचारक जो यह कहते हैं कि संयुक्त-स्टाक उद्यम राष्ट्रीय हैं, स्वामित्व के रूप के प्रश्न के स्थान पर प्रबंध के रूप के प्रश्न को रख देते हैं। वे इस तथ्य को भी भूल जाते हैं *कि उद्यम की प्रकृति प्रबंध के रूप पर निर्भर होती है।*

पूँजीवादी विचारक व पूँजीवादी समाज में प्रबंधक की भूमिका को भी ग़लत रूप में प्रस्तुत करते हैं। स्पष्ट रूप में प्रबधकों का कोई विशेष वर्ग नहीं है। जो *प्रबंध व्यवस्था के नीचे वाले क्रम में है अर्थात् जो भौतिक-उत्पादन में प्रत्यक्ष* शामिल होते हैं, वे वेतनभोगी हैं! वे नीति-सबंधी निर्णय नहीं करते हैं और लाभ के बँटवारे मे उनकी कोई भूमिका नहीं है। जहाँ तक शीर्षस्थ प्रबधकों का सवाल है, वे उद्यम की *गतिविधियों का निर्देशन* तभी कर सकते हैं जब उनके पास 51 प्रतिशत शेयरों का नियंत्रण हो अर्थात् जब वे पूँजीपति हों।

इसलिए 'प्रबंध-क्रांति' के दावे वास्तविकता से मेल नहीं खाते हैं। वे वित्तीय अल्प-तंत्र की सर्वोच्चता और उनके बढते मुनाफों को छुपाने के लिए गढ़े जाते हैं।

1960 के दशक में, पूँजीवादी साहित्य में सम-अभिरूपता का सिद्धांत व्यापक प्रचलित हो गया था। यह सिद्धात अनिवार्यतः जो दावा करता है, वह यह है कि जैसे-जैसे पूँजीवाद तथा समाजवाद का विकास होता है, वे दोनों बढ़ती मात्रा में समान विशेषताओं को अपनाने लगते हैं और दोनों के बीच का अंतर धीरे-धीरे मिटने लगता है। पूँजीवादी विचारक कहते हैं, *यह इस तथ्य के कारण होता है कि* दोनों व्यवस्थाओं में औद्योगिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक दशाएँ अधिक-से-अधिक समान होती जा रही हैं। सम-अभिरूपता का सिद्धात स्वामित्व के भिन्न रूपों—*समाजवादी व निजी पूँजीवादी—से उत्पन्न आधारभूत अंतर की उपेक्षा* करता है। न तो प्रौद्योगिक विकास और न ही संगठन व प्रबंध की कुछ सामान्य विशेषताएँ इस अंतर को समाप्त कर सकती हैं। पूँजीवाद के अंतर्गत प्रौद्योगिक विकास व अधिक कार्य-क्षमता का उपयोग अधिक तीक्ष्ण श्रम, मजदूर वर्ग के बढ़े हुए शोषण में होता है और इसका परिणाम पूँजीवाद के अंतर्विरोधों में अधिक गहनता होती है। *समाजवाद के अंतर्गत तकनीकी प्रगति समस्त जनगण के जीवन-* स्तरों में सुधार की आधारशिला के रूप में और श्रम के भार को कम करने के लिए काम आती है।

सम-अभिरूपता का सिद्धांत इस तथ्य का भी विशेष *प्रतिबिम्ब है* कि एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में पूँजीवाद स्वयं को प्रतिष्ठाहीन बना चुका है।

पूँजीवादी देशों में हड़तालों की बड़ी संख्या और वर्ग-संघर्षों का गंभीर होना